गो० तुलसीदास कृत

बरवै रामायण सटीक

पं० जनार्दन मिश्र, "परमेश"

गो० तुलसीदास कृत

बरवै रामायण सटीक

पं० जनार्दन मिश्र, "परमेश"

बरवै रामायण—सटीक

[११]

गोस्वामी तुलसीदास कृत

Barvei Ramayan sateek.

बरवै रामायण

[सटीक]

टीकाकार—

पं० जनार्दन मिश्र 'परमेश'

Janardhawn mishra.

Yugantar- Sahitaya Bagalpur city

युगान्तर-साहित्य-मन्दिर,
भागलपुर सिटी।

प्रकाशक—
युगान्तर-साहित्य-मंदिर
भागलपुर सिटी

प्रथम संस्करण—अगस्त १९३७
मूल्य—॥)

मुद्रक—
बाबू मानिक लाल,
दि युनाइटेड प्रेस, लिमिटेड,
भागलपुर ।

समर्पण

कुरसेला-इस्टेट के स्वत्वाधिकारी, त्रयोदश विहार प्रादेशिक
हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन पूर्णियां के स्वागताध्यक्ष,
उन्नतमना, उत्साह की प्रतिमूर्ति
बाबू रघुवंश प्रसाद सिंहजी के
कर-कमलों में—

—'परमेश'—

तुलसीदास और उनकी बरवै रामायण

राजनीतिक परिस्थिति

मुगल-साम्राज्य की स्थापना सोलहवीं शताब्दी में हुई। केवल कुछ ही युद्धों के बाद मुगलों को शासन-व्यवस्था निर्धारित करने का अवसर मिल गया। सारे भारतवर्ष में, उदयपुर को छोड़ कर, सम्राट का प्रतिद्वन्द्वी कोई नहीं रह गया। अकबर जैसे राजनीति-विशारद सम्राट की शासन-योग्यता के कारण देश के राजनीतिक जीवन में युगान्तर उपस्थित हो गया। चारों ओर शान्ति छा गई। पठानों के समय का उजड़ा हुआ मुल्क धीरे-धीरे आबाद हो चला। प्रजा उद्योग-धन्धे में लगी और व्यापार की राह सब ओर खुल गई। फलतः देश फिर से समृद्धिशाली हो चला। ऐसी परिस्थिति में ही किसी देश को अपने साहित्य, धर्म और कला-कौशल का ध्यान हुआ करता है। भारत में भी धर्म और साहित्य की ओर ध्यान दिया जाने लगा और पिछले कुछ दिनों से मुरझाई हुई धार्मिक भावना जनता के हृदय में फिर से पनप उठी।

सामाजिक अवस्था

भारत के नैतिक विकास के सत्ययुग में अपने विशाल समाज को एक राष्ट्रीय शृंखला में चलाने के प्रशस्त उद्देश्य से जो दृढ़ और सुव्यवस्थित योजना तैयार की गई थी वह विश्व के लिए सनातन आदर्श कही जा सकती है। वह महान योजना थी वर्णाश्रम-धर्म का निरूपण। यह वर्ण-धर्म कर्म और भाव के सामंजस्य पर खड़ा किया गया था। इन दोनों की मिश्रित भित्ति पर ही प्रत्येक वर्ण का कर्त्तव्य और अधिकार निश्चित था। फिर कर्त्तव्य और अधिकार मर्यादा की साँकल से आपस में इस प्रकार जकड़ दिये गये थे कि वे किसी प्रकार हिलडुल न सकें। दो में से किसी एक के शिथिल पड़ जाने पर स्थिति-विघातिनी-विषमता उत्पन्न हो सकती थी। त्रेता में यह व्यवस्था पूर्णत्व को प्राप्त कर चुकी थी। उसके बाद ही उसमें क्रमिक विशृंखलता आती गई। त्रेता में लोक-व्यवहार के प्रत्येक क्षेत्र में मंगलकारी मर्यादा प्रतिष्ठत थी। समाज का प्रत्येक व्यक्ति अपने जीवन में कर्त्तव्य और अधिकार का प्रयोग—कानून का बोझ समझ कर नहीं—धर्म मान कर करता था। कर्त्तव्य और अधिकार चाहे कुछ भी हो, प्रत्येक मनुष्य अपने को समाज का सेवक समझता था। एक धोबी के द्वारा दिये गये अपवाद का स्वागत करने के लिये एक चक्रवर्त्ती सम्राट् तक वाध्य थे। इस व्यवस्था के सब से प्रमुख उन्नायक रामचन्द्रजी हुए। उन्होंने अपने जीवन की प्रत्येक दिशा में कर्त्तव्य और अधिकार का प्रयोग,

मर्यादा पर जितना जोर डालकर किया उतना और किसी ने नहीं किया। इसीलिए जनता ने अपने श्रद्धेय नेता को 'मर्यादा-पुरुषोत्तम' की उपाधि दे डाली और राम का शासन 'राम-राज्य' के नाम से विघोषित कर दिया गया।

गोस्वामीजी ने 'राम-राज्य' की व्याख्या करते हुए पहले लोक-मर्यादा का इस प्रकार वर्णन किया है:—

बयरु न करु काहू सन कोई, राम प्रताप विषमता खोई।
सब नर करहिं परस्पर प्रीती, चलहिं स्वधर्म निरत श्रुति-रीती॥

फिर राम-राज्य में लोगों की अवस्था पर प्रकाश डालते हुए गुसाईंजी उसके परिणाम का संकेत करते हैं:—

नहिं दरिद्र कोउ दुखी न दीना। नहिं कोउ अबुध न लच्छन-हीना॥
सब गुनग्य पंडित सब ज्ञानी। सब कृतग्य नहिं कपट सयानी॥

गोस्वामीजी ने अपनी गीतावली में इस विषय का जैसा विशद वर्णन किया है, वैसा 'मानस' में भी नहीं बन पाया। 'राम-राज्य' के लिए उनके हृदय में कितना प्रलोभन है, वह उसे देखने के लिए कितना व्याकुल हैं— इस एक पद से साफ झलकता है:—

वन ते आइ कै राजा राम भए भुआल।
मुदित चौदह भुवन, सब सुख सुखी सब सब काल॥१॥
मिटे कलुष-कलेस-कुलषन, कपट-कुपथ-कुचाल।
गए दारिद, दोष दारुन, दंभ-दुरित-दुकाल॥२॥
कामधुक महि, कामतरु तरु, उपल मनिगन लाल।
नारि-नर तेहि समै सुकृती, भरे भाग भुआल॥३॥

बरन-आश्रम-चरमरत, मन वचन वेष . मराल ।
राम-सिय-सेवक-सनेही, साधु-सुमुख-रसाल ॥४॥
राम-राज-समाज बरनत, सिद्ध-सुर दिगपाल ।
सुमिरि सो तुलसी अजहुँ हिय हरष होत विसाल ॥५॥

मालूम है, भगवान रामचन्द्रजी ने कर्त्तव्य और अधिकार की मर्यादा का निर्वाह करने के लिए अपने हृदय को कितना विशाल बना लिया था ? उन्होंने अपने जीवन को किस महान व्रत के हाथ उत्सर्ग किया था ? वे स्वयं कहते हैं:—

स्नेहं दयां तथा सौख्यं यदि वा जानकीमपि ।
आराधनाय लोकस्य मुंचतो नास्ति मे व्यथा ॥

दुनिया आँखें खोल कर देखे—उस समय हमारे साम्राज्य-वाद का रूप कितना उदात्त और आदर्श कितना उन्नत था !

भगवान रामचन्द्र द्वारा मर्यादित वर्णव्यवस्था चरम सीमा को पहुँचाई गई। अब, प्रकृति के नियमानुसार, उसका ह्रास अवश्यंभावी था। धीरे-धीरे लोक-मनोवृत्ति में अन्तर आने लगा। कर्त्तव्य और अधिकार की शृंखला शिथिल पड़ने लगी। समाज के वैयक्तिक जीवन में कर्त्तव्य से परांमुख होने और अधिकार का दुरुपयोग करने की भावना जोर पकड़ने लगी। प्रेम, दया, दाक्षिण्य, सहानुभूति और सारल्य आदि भावों की जगह ईर्ष्या, द्वेष, दंभ, मद, लोभ, उत्पीड़न और हिंसा आदि दुर्वृत्तियों ने घर कर लिया। फलतः समाज गृह-कलह का

क्रीड़ागार बन कर दुख, दारिद्र्य, और रोग-शोक का शिकार बन गया। द्वापर के दुर्योधन की मनोवृत्ति कुछ ऐसे ही दूषित उपादानों से बनी थी। श्रीमद्भागवत की कथा का प्रारंभ उसी लोकमर्यादा की उपेक्षा से, भारत के नैतिक पतन की अवस्था से किया गया है। जंगल में शिकार को गये हुए, प्यास से व्याकुल राजा परीक्षित राज-मद में चूर होकर एक ऋषि के गले में अकारण साँप डाल देते हैं। कैसा अनर्थ! लोक-मर्यादा की यह अवहेलना! वर्णाश्रम-धर्म के मूल तत्त्व अधिकार का इतना दुरुपयोग!

अब हम त्रेता से कलियुग में आ गये। राजा परीक्षित की स्वेच्छाचारिता ने कलियुग का 'श्रीगणेश' कर दिया था। 'राम-राज्य' हमारे लिए अब कहानी हो गया। इसके बाद तो भारतवर्ष के ह्रास में वह तूफ़ानी वेग आया कि वह अपने आप को ही भूल बैठा। निदान, मुसलमानों की अमलदारी में भारत का समाज रूपी शरीर दुर्बल और क्षीण होकर बिलकुल ही निकम्मा बन गया। गोस्वामी तुलसीदासजी ने उस समय की सामाजिक अवस्था का चित्र अंकित करते हुए बड़ी बेचैनी के साथ लिखा है:—

विप्र निरच्छर लोलुप कामी। निराचार सठ वृषली-स्वामी॥
निराचार जो श्रुति-पथ त्यागी। कलियुग सोई ज्ञानी वैरागी॥
नारि मुई घर संपत नासी। मूड़ मुड़ाइ भए संन्यासी॥
ते विप्रन सन पाँव पुजावहिं। उभय लोक निज हाथ नसावहिं॥

इस प्रकार गोस्वामीजी के 'रामचरित मानस' से पता चलता है कि उस समय समाज-शृंखला की प्रत्येक कड़ी छिन्न-भिन्न हो चुकी थी। हिन्दू-जाति के विशुद्ध व्यापार की रगड़ से साफ हुआ व्यवहार-क्षेत्र रोड़ों और कांटों से आकीर्ण हो रहा था। लोक-मर्यादा की वह अत्युच्च अट्टालिका धराशायी हो गई थी। अतः लोक-कल्याण की चिंता से आकुल गोस्वामी ने भारत के सामाजिक जीवन को इस प्रकार रोगाक्रान्त देख कर 'राम-चरित्र' रूपी सर्वश्रेष्ठ रसायन का प्रयोग करने की ठानी; वर्णाश्रम धर्म रूपी विशाल और भव्य भवन के भग्नावशेष की मरम्मत कर उसे जनोपयोगी बनाने की भरपूर चेष्टा की। लोक-व्यवहार में मर्यादा का सर्वथा तिरस्कार कर दिया गया था, इसलिए उसे फिर से प्रतिष्ठित करने हेतु मर्यादा-पुरुषोत्तम रामचन्द्र के चरित्र सा पुनीत आदर्श और कहाँ मिलता ? फलतः भक्तवर तुलसी ने राम-रसायन को न केवल स्वयं पान कर आत्मा को तृप्त किया, वरन हिन्दू-जाति को पिला कर उसे सुखी और दीर्घजीवी बना दिया।

तुलसी की कृपा से हिन्दू-जाति को अपनी भूली हुई धरोहर मिल गई। उसने इसे 'आर्यों' के 'वेद' की तरह अपनाया। रामायण की प्रत्येक चौपाई, प्रत्युत् प्रत्येक अक्षर, हिन्दू-जीवन के साथ मिल गया। तुलसी के रामचरित मानस ने भारत में फिर से 'राम-राज्य' का संस्थापन तो नहीं किया किन्तु हिन्दू-

समाज को वर्णाश्रम की उस धर्मशाला में चिरकाल के लिए टिका दिया जिसकी आधार-शिला मर्यादा की भूमि में पड़ी थी।

मुसलमानी राज्य भारत में संस्थापित होने के कारण हिन्दू-जाति को आर्य-संस्कृति के आधार पर अनुप्राणित करने की आवश्यकता अत्यधिक अनुभूत होने लगी, क्योंकि हिन्दुओं में मुसलमानी रस्म-रिवाज के अनुकरण की वह आशंका उठने लगी जिससे शीघ्र ही हिन्दुओं की बची-खुची संस्कृति के चिन्ह भी उसके सामाजिक जीवन से लुप्त हो जाते। अतएव, तुलसीदास जी का, राम-चरित्र के आदर्श को सामयिक रूप देने के लिए वाध्य होना अनिवार्य रूप से वांछनीय था।

धार्मिक अवस्था

उस समय भारत के धार्मिक विचारों में भी बड़ी क्रांति सी मची हुई थी। कोई भी स्थिर धर्म व्यापक रूप से प्रचलित नहीं था। राजनीतिक एकता एक प्रकार से स्थापित हो चुकने पर भी धार्मिकता की दृष्टि से समाज टुकड़े-टुकड़े में बँटा हुआ था। वैदिक काल से समय-समय पर बदलते आते हुए भिन्न-भिन्न मतों का संस्कार यहाँ प्रत्यक्ष रूप से मौजूद था। अब जनता तर्कात्मक दार्शनिक विचारों से विमुख होकर पौराणिक धर्म की ओर प्रवृत्त हो रही थी और वेदान्तीय निराकारवाद के स्थान पर साधारण जनता का झुकाव भक्तिपूर्ण सगुणोपासना की ओर हो गया था। उधर मुसलानों के पैगम्बर-वाद और अनलहक़ (एकेश्वरवाद) के समानान्तर अवतारवाद

तथा निर्गुणवाद का प्रचार किया जा रहा था। कहीं तंत्र-मार्ग अपना इन्द्रजाल फैला कर अलग ही मसान जगा रहा था, और कहीं कबीर-पंथ 'बरसे कम्बल भीजे पानी' की 'उलट बाँसी' सुना रहा था; तथापि पंडित समाज में दार्शनिक मत का ही प्रावल्य था। इसके सिवा बंगाल, बिहार आदि पूर्वी अंचलों में शैव और शाक्त-संप्रदाय प्रचलित थे। उस पर दक्षिण से आये हुए वैष्णव-धर्म का प्रचार बड़े जोरों से किया जा रहा था। वैष्णव-धर्म के प्रवर्त्तकों में स्वामी रामानुजाचार्य और वल्लभाचार्य प्रमुख थे। यद्यपि शंकराचार्य के प्रभाव से बौद्ध-धर्म की जड़ भारत-भूमि से उखड़ चुकी थी, तथापि जैन-मत का जहाँ-तहाँ निसान रह गया था और पंजाब में सिक्ख-संप्रदाय वेग से बढ़ रहा था। इधर सूफीमत के मुसलमान कवि अपना स्वतंत्र क्षेत्र निर्माण कर रहे थे। स्वयं सम्राट् अकबर ने 'दीन-ए-इलाही' नाम का अपना नया मत गढ़ लिया था। अतएव, डर था कि राजकीय धर्म होने के कारण कहीं इसका व्यापक प्रचार न हो जाय। इस प्रकार सारा देश भिन्न-भिन्न धार्मिक विचारों से छिन्न-भिन्न हो रहा था।

तुलसीदास और उनका दृष्टि-कोण

ऐसे ही विकट समय में, जब कि भारत की राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक परिस्थितियाँ भारतीय संस्कृति के सर्वथा प्रतिकूल बन रही थीं, महात्मा तुलसीदासजी ने जन्म ग्रहण किया। इन्होंने देखा, पराधीन भारत धार्मिक मतभेद का भयानक अखाड़ा बन रहा है,

जो आपस की रगड़ से किसी दिन अनायास भस्मीभूत हो सकता है। ख़ास कर शैव और वैष्णव एक दूसरे को जानी दुश्मन समझ रहे थे। गोस्वामी तुलसीदास ने देश में बढ़ती हुई तमाम धार्मिक अनेकता को दूर कर जनता के हृदयों को एक सूत्र में बाँधने के पवित्र उद्देश्य से वैष्णव-धर्म की रामोपासना-शाखा को ग्रहण किया। अपने लक्ष्य तक पहुंचने के लिए, इन्होंने बड़ी कोशिशें कीं और धार्मिक भेद-भाव को मिटाने के ऊपर खास नजर रक्खी ※।

कार्यपथ में कठिनाइयां

इस समय देश में कृष्णोपासना के पौधे में दो-दो पत्ते लग चुके थे। कृष्ण लीला-प्रधान पुरुष थे और राम आदर्श-प्रधान मर्यादा पुरुषोत्तम। मानव-समाज में नैतिक बल की कमी थी और बिना नैतिक बल के जाति में जीवन नहीं

---

* जहां गुसाईंजी ने राम-भक्ति का उपदेश किया है, वहां शिव, दुर्गा, गणेश प्रभृति अन्य देवताओं की भक्ति का भी समादर किया है। 'विनय-पत्रिका' में प्रायः सभी प्रमुख देवताओं की स्तुति के बाद रामचन्द्र के विनय-पद लिखे हैं। शिव और विष्णु में भेद-बुद्धि रखनेवालों के लिए तो मानो उन्होंने खास 'फतवा' ही निकाल दिया है। उन्होंने अपने विचार को 'राम' के मुख से इस भाँति कहलवाया है :—

शंकरप्रिय मम द्रोही, मम द्रोही शिवदास।
ते नर करहिं कल्प भरि, घोर नरक मँह बास॥

आ सकता—राष्ट्र मुर्दा बना रहता है। इन सब परिस्थितियों को सोच विचार कर तुलसीदासजी ने रामोपासना को जनता में प्रचार करना सब से आवश्यक समझा, परन्तु उनके हृदय में इस भावना के उदय होने के पूर्व कृष्ण-काव्य के प्रौढ़ रचना की मधुर बंशी हिन्दू जाति के कानों में गूंज चुकी थी और उस क्षेत्र में काम करनेवाले कितने ही कर्मठ कार्यकर्त्ता उस समय भी मौजूद थे। कोई सौ वर्ष पूर्व महाकवि विद्यापति ने जयदेव के गीतगोविन्द के अनुकरण पर हिन्दी पद्य-शैली में कृष्ण-काव्य की सरस रचना की थी। फिर तो आगे चल कर सूरदास आदि अष्टछाप के कवियों ने उसे बहुत ऊँचा उठा दिया। ऐसी दशा में तुलसीदास के लिये रामोपासना का प्रचार और तदनुकूल रामकाव्य का निर्माण एक दुष्कर कार्य्य के रूप में अनुभूत होना सहज संभव था, क्योंकि यह काम उन्हें अकेला ही * करना था। कृष्ण-काव्यकार की तरह अष्टछाप की मंडली उनकी नहीं थी। फिर कृष्णोपासना की भावना के स्थान में रामोपासना का भाव भरना था। अतएव तुलसीदास के सामने यह एक अत्यन्त जटिल समस्या थी और परिस्थिति पेचीली थी।

किन्तु इससे क्या? गोस्वामी सच्चे गोस्वामी थे। देश की

---

* यद्यपि उसी समय आचार्य केशवदास भी 'रामचन्द्रिका'-जैसे रामकाव्य की रचना कर रहे थे, तथापि उनका उद्देश्य रामभक्ति का प्रचार न था, वरन् आचार्यत्व अथवा महाकवित्व-प्रदर्शन-था।—लेखक।

बिखरी हुई शक्ति को उन्हें बटोरना था। उनमें आत्मबल था—राम के प्रति विश्वास की दृढ़ता थी। अस्तु, वह खम ठोंक कर कार्यक्षेत्र में कूद पड़े और सारी शक्ति लगा कर काम करना शुरू कर दिया।

शैली का आश्रय-ग्रहण

अब तक हिन्दी काव्य में कई प्रकार की शैलियाँ प्रचलित हो चुकी थीं। जनता पर शैलियों का बड़ा ही प्रभाव पड़ता है। साधारण कविता भी किसी चलती शैली में यदि जनता को दी जाय तो वह उसे बड़े चाव से ग्रहण कर लेती है और यदि उत्तम कव्य हो तो फिर पूछना ही क्या ? सोने में सुगन्ध आ जाती है। तुलसीदास जी ने इसी नीति का आश्रय लिया। उस समय तक जितनी भी शैलियाँ प्रचलित थीं, उन सबमें उन्हों ने रचनायें कीं—एक ही राम-भक्ति के आसव को भांति भांति के प्याले में भर कर जनता के हाथों में दिया।

गोस्वामीजी ने मुख्यतः चार शैलियों में रचनाएँ की हैं:—

(१) जय काव्य-शैली—इसमें चारण काव्यकाल के छन्दों (छप्पय, त्रोटक आदि) का प्रयोग है।

(२) पद-शैली—विद्यापति और सूरदास के अनुकरण में गीतों की रचना।

(३) मुक्तक-शैली—अलंकारी कवियों के अनुकरण में कवित्त सवैयों का प्रयोग।

(४) कथा काव्य-शैली—जायसी के अनुकरण में दोहा चौपाइयों का प्रयोग।

इनके अतिरिक्त गोस्वामीजी ने और भी कई स्वतंत्र पद्धतियों को प्रश्रय दिया है। उन्हें तो एकमात्र यही धुन थी कि उनकी रचना अधिक से अधिक जनता तक पहुंचे। यही कारण है कि उन्हों-ने महज मामूली लोगों के लिए भी 'हनुमान चालीसा' और 'रामाज्ञा-प्रश्न' जैसे साधारण कोटि के काव्यों की रचना की है। स्त्री-समाज में राम का आदर्श पहुंचे—इस विचार से उन्होंने 'रामलला नहछू' बना डाला। इसी प्रकार भिन्न-भिन्न दृष्टियों से उन्होंने राम-काव्य का निर्माण किया। साथ ही उन्होंने बराबर यह ख्याल रक्खा है कि कहीं लोगों में उनके प्रति यह भ्रम फैलने न पावे कि वह राम के सिवा अन्य उपास्य देवताओं में श्रद्धा नहीं रखते। इसीलिये 'कृष्ण' पर उन्होंने 'कृष्ण गीतावली' जैसी स्वतंत्र रचना कर डाली। ऐसी दशा में तुलसीदास के सम्बन्ध में:—

मुरली मुकुट दुराय कै, नाथ भये रघुनाथ।
तुलसी मस्तक तब नयो, धनुष बाण लिय हाथ॥

यह दोहा निराधार और दूसरे का रचा हुआ प्रतीत होता है।

तुलसीदासजी ने इन ग्रंथों की रचना की है—

(१) रामचरित मानस (२) विनय पत्रिका (३) गीतावली (४) कवितावली (५) बरवै रामायण (६) दोहावली (७) कृष्ण गीतावली (८) जानकी मंगल (९) पार्वती मंगल (१०) राम-शलाका (११) रामलला नहछू (१२) वैराग्य-संदीपिनी (१३) रामाज्ञाप्रश्न (१४) संकट-मोचन और हनुमान बाहुक।

बरवै रामायण यह दोहा से भी छोटा मात्रिक वृत्ति का छन्द है। आठ और ग्यारह मात्राओं के विराम से प्रत्येक चरणों में उन्नीस मात्राएँ होती हैं। अंत में ऽ। (गुरु लघु) होता है।

बरवै छन्द बरवै छन्द की उत्पत्ति के सम्बन्ध में एक कथा प्रचलित है। कहते हैं कि रहीम का एक नौकर अवकाश लेकर घर गया हुआ था। अवकाश पूरा कर जब वह अपने मालिक के पास वापस आने लगा तो उसकी नवोढ़ा पत्नी को यह असामयिक वियोग असह्य हो उठा। साथ ही उसने दासत्व की विषमता को एक दर्दभरी आह के रूप में महसूस किया। फलतः उसके व्यथित हृदय ने एक मर्मस्पर्शी कविता छन्दोबद्ध कर अपने प्रियतम के द्वारा रहीम की सेवा में इस प्रकार भेजी—

प्रेम प्रीति कौ बिरवा चलेहु लगाय।
सींचन की सुधि लीजौ मुरझि न जाय॥

भाव-प्रवण रहीम का भावुक हृदय इस पद्य से ऐसा प्रभावित हुआ कि उन्होंने उसी दम न केवल नौकर को एक लम्बी छुट्टी ही दी अपितु उसकी विरह-संतप्त स्त्री के लिए कीमती उपहार भी भेजा।

उपर्युक्त छन्द के 'बिरवा' शब्द में वस्तुतः महज कमाल की खूबी है। उसकी रमणीय कोमलता पर वे इतना आकृष्ट हुए कि उन्होंने उस छन्द का नाम ही 'बिरवा' रख दिया और उस छन्द में एक सरस काव्य-ग्रंथ ही लिख डाला। पीछे वही 'बिरवा'

शब्द रूपांतरित होकर 'बरवा' और फिर 'बरवै' हो गया।

इस कहानी से चार तथ्य निकलते हैं:—

१ साहित्य-जगत में इस छन्द को 'बरवै' की संज्ञा देकर रहीम ने ही पहले-पहल उपस्थित किया।

२ इसलिए रहीम के बाद चाहे जिस किसी ने इस छन्द का प्रयोग किया—कहना होगा कि—उस पर रहीम का प्रभाव अवश्य और प्रत्यक्ष रूप से पड़ा है।

३ संभव है, यह छन्द, आरंभ में, स्त्री-समाज की ही वस्तु रहा हो, परन्तु रहीम ने उसे क्या स्त्री और क्या पुरुष सब के उपयोग के योग्य बना दिया।

४ इनके सिवा सब से बड़ी मार्के की बात यह है कि छन्द की संयत शब्द-योजना, मर्यादित निबन्ध-शैली एवं ध्वनि-मूलक अभिव्यञ्जना-प्रणाली से स्पष्ट हो जाता है कि रहीम के सामने यह छन्द साहित्य की एक अमर संपत्ति का रूप लेकर उपस्थित हुआ था—वह रहीम से मिलने के पहले ही काव्य की उच्च कोटि में बैठने के योग्य बन चुका था। अस्तु, यद्यपि इस छन्द के आनुक्रमिक विकास का इतिहास तो कहना कठिन है, फिर भी इतना निश्चय माना जा सकता है कि 'बरवै' छन्द के प्रयोग-क्षेत्र में रहीम अपनी भृत्य-भार्या से प्रभावित हुए और रहीम का प्रभाव तुलसीदास पर पड़ा है।

किन्तु, रामचरितमानस की भूमिका में श्रीमान् पंडित राम

नरेशजी त्रिपाठी ने, बिना कोई कारण वा प्रमाण पेश किये, तुलसीदास का रहीम से प्रभावित होना स्पष्ट शब्दों में, कैसे अस्वीकार कर दिया है, आश्चर्य है।

सब से पहले मेरी निजी राय में नबाव खानखाना अब्दुर्रहीम ने ही बरवै छन्द का प्रयोग किया है। कविवर 'रहीम' तुलसीदास के समसामयिक ही नहीं प्रत्युत् परम मित्र थे। रहीम की रचना बड़ी ही हृदयग्राही और पौढ़ होती थी, इसलिए उसका जनता में अच्छा आदर और प्रचुर प्रचार था। शायद, उनके बरवै का जन-समाज में आदर होता देख तुलसीदास जी इस नई शैली का लोभ संवरण न कर सके। इस प्रकार जिस बरवै के रूप को 'रहीम' ने नायिका-भेद का विषय देकर मधुर बनाया था, उसे गोस्वामीजी ने राम-रस से लावण्य लीलामय बना दिया। किसी किसी का मत है, कि बरवै छन्द कविवर 'रहीम' को बहुत पसन्द था, इसलिए उन्होंने इस छन्द में रचना करने का प्रस्ताव गुसाईं जी से किया अथवा किया होगा, सुतरां, मित्र के आग्रह को स्वीकृत कर तुलसीदासजी ने बरवै रामायण बनाई। चाहे कुछ भी हो, इतना तो निश्चित है कि रहीम के अनुकरण में ही बरवै रामायण का निर्माण हुआ है। प्रसिद्ध है कि—

तुलसि गंग दोऊ भये, सुकविन के सरदार।
जिनकी कविता में मिली भाषा विविध प्रकार॥

भाषा

गोस्वामी तुलसीदास की भाषा में सरलता और भाव में स्वाभाविकता की मात्रा इतनी प्रचुर है कि इन्हीं दो प्रधान गुणों के कारण उनकी रचना न केवल हिन्दी साहित्य में, वरन् अन्य उन्नत भाषाओं के साहित्य में भी बहुत ऊँचा स्थान रखती है। गुसाईंजी ने अपने भिन्न-भिन्न ग्रंन्थों में भिन्न-भिन्न भाषाओं के प्रयोग किये हैं। 'रामचरितमानस' में बुन्देलखंडी मिश्रित अवधी का प्रयोग है तो 'कवितावली' में अपभ्रंशकाल * की प्राकृत से पुष्ट व्रजभाषा का निर्वाह है। 'विनय पत्रिका' और 'गीतावली' में व्रजभाषा की प्रधानता है। इसी प्रकार 'बरवै रामायण' को अवधी में लिखा है। बरवै दोहा और चौपाई अवधी के अपने छन्द माने जा सकते हैं। अतएव, उनकी भाषा और शैली की विभिन्न प्रयोग-प्रवृत्ति से यही सूचित होता है कि वह रामभक्ति का फौव्वारा इतने वेग से छोड़ना चाहते थे कि जिसमें उनकी 'राम विमल जस भरि जलतासी'—कविता से भिन्न-भिन्न रुचि रखने वाले समाज का हृदय आसानी से अभिसिंचित हो सके। इस दिशा में उन्हें काफी कामयाबी मिली है—कम-से-कम इतना स्वीकार करने में किसी को आपत्ति नहीं होगी।

---

*डिगति उर्वि अति गुर्वि सर्व पब्बै समुद्द सर।

×× ×× ×× ××

दिग्गयंद लरखरत परत दसकंठ मुक्ख भर।

—कवितावली

काव्य-सौष्ठव

साहित्य-शास्त्र में व्यंग्य प्रधान काव्य को उत्तम कहा गया है। व्यंग्य काव्य का प्राण है। वाच्यार्थ की तरह व्यंग्यार्थ शब्दों द्वारा कथन नहीं हो सकता—व्यंग्य द्वारा ध्वनित होता है। अतः जहाँ व्यंग्यार्थ की प्रधानता होती है, उसे 'ध्वनि' कहते हैं। बरवै रामायण के प्रायः प्रत्येक छन्द में ऐसी-ही-ऐसी ध्वनियाँ पाई जाती हैं, जिनसे कविता का हृदय स्पंदित होता हुआ-सा जान पड़ता है और उस सूक्ष्म भावाघात से हृत्तंत्री एक बार ही झंकृत हो उठती है। 'बरवै रामायण' की कविता-कामिनी न केवल प्रौढ़प्राणा ही है, वरन् कोमलकांत पदावली से इसमें सौकुमार्य एवं माधुर्य गुण भी पर्याप्त मात्रा में पाये जाते हैं। उस पर गुसाईं जी ने उसे सुवर्ण और बहुमूल्य भावरत्नों की लड़ियाँ गूँथकर अलंकारों से ऐसा सजाया है कि वह साक्षात् 'सरस्वती' बन गई है। जान पड़ता है, उन्होंने इसे अलंकारों का कौतुक दिखाने के लिए ही तैयार किया था।

याद रहे, उस समय रीतिकाल का प्रारंभ हो चुका था। केशवदास ने इस क्षेत्र में काम करने का श्रीगणेश कर दिया था। सुतरां, लोगों की अभिरुचि अलंकारों की ओर जाग उठी थी। अतएव, गुसाईं जी जनता की इस प्यास को निश्चय समझ रहे थे और इसलिए बरवै रामायण को उन्होंने अलंकार प्रधान * रच कर लोक रुचि का आदर किया।

---

* उस समय कविता-प्रवाह किस दिशा में बह रहा था—कवि-

बरवै रामायण' एक प्रकार का 'प्रबंधात्मक मुक्तक खंडकाव्य' कहा जा सकता है। इसमें प्रथम तथा अंतिम रसों (शृंगार तथा शांत) का ही परिपाक पाया जाता है। कहीं कहीं वात्सल्य भी आ गया है। कुछ भी हो, रसों की परिपाक-क्रिया में गुसाईं

प्रतिभा किस क्षेत्र में काम कर रही थी—इसे प्रत्यक्ष दिखाने के लिए ही गुसाईंजी ने अपने 'रामचरितमानस' में समय-समय और स्थान-स्थान पर कवि-सम्मेलन का आयोजन किया है। एक दिन कवि-सभा में सुग्रीव, अंगद, हनुमान और स्वयं रामचन्द्रजी ने भाग लिया था—सब ने प्रतियोगिता में कल्पना की उड़ान ली थी। विषय था—'चन्द्रमा में धब्बा'। इस पर एक-एक कर उनकी सूक्तियाँ सुनिये—

कह सुग्रीव—सुनहु रघुराया। ससि महँ प्रगट भूमि की छाया॥
मारेउ राहु ससिहिं कह कोई। उर महँ परी स्यामता सोई॥
कोउ कह जब बिधि रति-मुख कीन्हा। सार भाग ससि कर हरि लीन्हा॥
छिद्र सो प्रगट इन्दु उर माहीं। तेहि मग देखिय मग परछाहीं॥

इस पर कविवर रामचन्द्र बोल उठे—

कह प्रभु—गरल बन्धु ससि केरा,
अति प्रिय तेहि उर दीन्ह बसेरा।

अंत में कवीश्वर कपीश्वर, हनुमानजी महाराज सब पर बाजी मार जाते हैं। उनकी उत्प्रेक्षा सब पर श्रेष्ठ करार दी जाती है—

कह हनुमान सुनहु प्रभु, ससि तुम्हार प्रिय दास।
तव मूरति तेहि उर बसत, सोई स्यामता भास॥

कहिए, गुसाईं जी के बज़्म-ए-शायरा की रंगत कैसी रही?

जी एक सिद्धहस्त रासायनिक जान पड़ते हैं। संयोग और वियोग शृंगार का उसमें ऐसा हृदयस्पर्शी वर्णन मिलता है कि, रीतिकाल के शृंगारी कवियों की कविता, उसके आगे बिलकुल नंगी मालूम पड़ने लगती है। गुसाईंजी के एक बरवै के भाव-सौंदर्य को देख कर बिहारी जैसे शृंगारी महाकवि का जी न रहा। उन्होंने उसे उड़ा कर, सौ सौ मुहरों पर बिकने वाले अपने दोहे में ढाल ही लिया। देखिए—

उठी सखी हँसि मिस करि कहि मृदु बैन ;
सिय रघुवर के भए उनींदे नैन ।

—तुलसी ।

×× ×× ×× ××

पति रति की बतियाँ कही सखी लखी मुसुकाइ;
कै कै सबै टलाटली अली चली सुख पाय।

—बिहारी ;

'बरवै' और 'दोहे' में यद्यपि एक ही भाव अभिव्यक्त करने का प्रयास किया गया है, तथापि जहाँ बरवै की सखी की सूक्ति स्वाभाविकता से ओतप्रोत है, वहाँ दोहे से 'पति' की घोर अरसिकता टपकती है। 'पति रति की बतियाँ कही'—में कितनी निर्लज्जता है ! बरवै की सखी का हँस कर, बहाना कर और यह कह कर उठ जाना कि, 'सिय रघुवर के भए उनींदे नैन'—

कितनी गूढ़ व्यंजना का पता देता है। सखियों के कहने में जो व्यंग है, वह वाच्यार्थ से नहीं, वरन् ध्वनि से व्यक्त होकर हृदय की अंतिम तह को जाकर छू जाता है—एक अज्ञात गुदगुदी पैदाकर जाता है। बरवै और दोहे में वही अंतर है, जो वस्तु और उसकी छाया में।

गोस्वामी तुलसीदास का उदय भक्ति-युग की सांध्य मरीचि के साथ हुआ था। उस समय काव्य रीति विषयक ग्रंथ रचे जाने लगे थे। आचार्य केशवदास ने बड़ी सफलता के साथ इस क्षेत्र में काम करना प्रारंभ कर दिया था। उनकी देखा देखी और भी अनेक लोग इस मैदान में उतरने लगे थे। 'रहीम' का 'बरवै नायिका भेद' इसी प्रवृत्ति का परिणाम था। ऐसी दशा में तुलसी-दास के ऊपर इन रचनाओं का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक और आवश्यक था। अस्तु, उन्होंने भी उस क्षेत्र में कदम बढ़ाया। फलतः 'कवितावली' और 'बरवै रामायण' की रचना उसी प्रेरणा का आशीर्वाद थी।

यों तो 'रामचरितमानस' और गुसाईंजी की अन्य रचनाएँ अलंकारों से लदी हुई हैं, किन्तु वहाँ इनका अलंकारों के लिए खास तौर पर प्रयास नहीं लक्षित होता—स्वाभाविक रूप से उनमें अलंकारों का, आप-से-आप, समावेश हुआ जान पड़ता है। इसके लिए गुसाईंजी पर आक्षेप किये गये हैं, परन्तु गुसाईंजी किसी भी शैली को अपनाने से कैसे बाज आते ? उन्हें तो अपनी रचना

के द्वारा जनता को वह संदेश सुनाना था, जिससे समाज में फैली हुई तत्कालीन गंदगी धुल जाती। यही कारण है कि 'बरवै रामायण' और कवितावली' का उत्तरकांड—जो सारे ग्रन्थ का प्रायः आधा भाग है—रामकथा से सम्बन्ध नहीं रखता, वरन् भक्ति का उपदेश सुनाता है। 'कवितावली के उत्तरकांड में तो राम-स्तुति के साथ-साथ शिव, पार्वती, गंगा, गणेश आदि अन्य देवताओं का भी काफी स्तवन किया गया है। क्या उनकी इस निबन्ध शैली से यह साफ जाहिर नहीं होता कि उनकी मूल प्रवृत्ति समाज की धार्मिक अनेकता मिटाने की थी और अपनी इस उद्देश्य-पूर्त्ति की धुन में उन्हें आजकल के समालोचकों के आक्षेपों की तनिक भी परवा नहीं थी ?

गोस्वामी तुलसीदासजी पहले भक्त थे फिर कवि। अतएव रचना-वैचित्र्य के विचार से हम 'बरवै रामायण' को दो भागों में बाँट सकते हैं। इसका पूर्वार्द्ध यदि कहा जाय कि महाकवि तुलसी का रचा हुआ है, तो उत्तरार्द्ध को परम भक्त तुलसीदास का रचा हुआ कहना पड़ेगा। अस्तु, छोटे छोटे छन्दों में छोटा-सा ग्रन्थ होने पर भी 'बरवै रामायण' एक उत्तम काव्य की कोटि में रक्खी जा सकती है, और हम कह सकते हैं कि गुसाईंजी की रचनाओं में इसका स्थान पाँचवाँ है।

'बरवै रामायण' की प्रस्तुत टीका, मैंने साहित्य में प्रवेश करनेवाले विद्यार्थियों को सामने रख कर लिखी है। यद्यपि

परिशिष्ट पृष्ठ-संख्या

बरवै रामायण

[सटीक]

अलंकार—यहाँ 'पूर्वरूप' अलंकार का प्रथम भेद है।

लक्षण—लै गुन तजि तेहि प्रगट जहँ वस्तु प्रथम निज रूप।
वस्तु गए त्योंही रहै पूरब रूप अनूप ॥

विवरण—किसी वस्तु का अन्य वस्तु-संपर्क से लिए हुए गुण को त्याग कर फिर अपने-ही पूर्व वाले रूप में प्रकट होना 'पूर्वरूप' अलंकार कहलाता है। यहाँ मोती पहले काले बालों के साथ नीलम-सा बोध होता है; किंतु वही हाथ में आकर फिर स्वच्छ मोती दीखने लगता। अर्थात् प्रथम वह बालों का श्यामता-गुण ग्रहण कर के फिर अपने पूर्व रूप में आ जाता है।

सूचना—इस अलंकार का दूसरा भेद है—

"ग्राह्य गुणवाली वस्तु के नष्ट होने पर भी अवस्था का पूर्ववत् बना रहना।" जैसे—

अंग-अंग नग जगमगत दीप सिखा-सी देह।
दिया बढ़ाये हू रहै बड़ो उजेरो गेह ॥
—विहारी।

सम सुबरन सुखमाकर सुखद न थोर।
सीय अंग सखि! कोमल कनक कठोर ॥२॥

शब्दार्थ—सुबरन (सुवर्ण)=सोना; सुंदर रंग। सुखमाकर (सुषुमाकर=सुषुमा+आकर)=शोभा की खान; अत्यंत सुंदर। कनक=सोना।

पद्यार्थ—हे सखि ! सीताजी के शरीर का रंग सोने के समान है। यह शोभा की खान और (नेत्रों को) थोड़ा सुख देनेवाला नहीं, अत्यंत सुख देनेवाला है। सीताजी का शरीर कोमल है, किंतु सोना कठिन होता है।

विशेष—केवल समान वर्ण होने के कारण ही सीताजी के शरीर के गौर वर्ण की उपमा सोने से नहीं दी जा सकती। सोने की अपेक्षा सीताजी के शरीर में कई विशेष गुण हैं। प्रथम तो जहाँ सोने में एक प्रकार की शोभा है (सही), वहाँ सीताजी की देह शोभा की खान है। ओज-दीप्ति, स्निग्धता, गठन-चारुता, सौकुमार्य और लावण्य-सौष्ठव को भला बेचारा सोना कहाँ पा सकता ? इन गुणों के कारण-ही देह की छवि-छटा सोने की अपेक्षा कहीं बढ़कर नेत्रों को सुखकर प्रतीत होती है। इन सूक्ष्म पार्थक्यों के सिवा प्रत्यक्ष अंतर तो यह है कि सीताजी के शरीर की कोमलता सोने को कभी मिलनेवाली नहीं—वह तो कठोर होता है।

यहाँ 'सुखमाकर' और 'सुखद न थोर' पदों में ध्वनि है। अर्थात् 'सुबरन सम' कहने के बाद सीताजी के शरीर को 'सुखमा-कर' कहा। मतलब यह कि सोना सुखमाकर नहीं है। तब क्या है ? उसमें साधारण शोभा मात्र है—शोभापुंज नहीं। 'सुखद न थोर' कहकर सोने के लिए संकेत किया है कि सोना नेत्र को अपेक्षाकृत कम सुख देनेवाला है।

अलंकार – इसमें 'व्यतिरेक' अलंकार का प्रथम भेद है।

लक्षण— उपमा ते उपमेय में अधिक कछू गुन होय।
व्यतिरेकालंकार तेहि कहैं सयाने लोय॥

विवरण—जहाँ उपमान की अपेक्षा उपमेय में कुछ अधिक उत्कर्ष कहा जाय, वहाँ व्यतिरेकालंकार होता है। यह उत्कर्ष दो प्रकार से प्रकट किया जाता है। (१) उपमेय में उपमान से कोई गुण अधिक कहा जाय। (२) उपमान में कोई हीनता दिखाई जाय। यहाँ, बरवै के पहले चरण में पहला 'व्यतिरेक' है, क्योंकि रंग में समानता प्रकट कर 'सुखमाकर' 'सुखद न थोर' पदों से देह की अधिक उत्कृष्टता प्रकट की गई है। दूसरे चरण में द्वितीय 'व्यतिरेक' है, क्योंकि उपमान 'कनक' को कठोर बताकर उसकी हीनता दिखाई गई है।

सिय-मुख सरद कमल जिमि किमि कहि जाय।
निसि मलीन वह, यह निसिदिन बिगसाय॥३॥

शब्दार्थ—सरद कमल=शरद् ऋतु का कमल। बिगसाय= विकसित होता है।

पदार्थ—यह किस प्रकार कहा जाय कि सीता जी का मुख शरद ऋतु के कमल के समान है, क्योंकि वह (कमल) रात में कुँभला जाता है; पर यह (सीता जी का मुख) रात-दिन खिला हुआ (प्रसन्न) रहता है।

विशेष—कमल का सूर्य के प्रति एकांगी प्रेम है। कमल सूर्य को चाहता है, पर सूर्य कमल को नहीं चाहता। फिर कमल का शत्रु चंद्रमा है; अतएव वह रात में सिकुड़ जाता—उदास रहता है; किंतु सीताजी और रामचन्द्र के बीच दाम्पत्य प्रेम है, इसीलिए सीताजी रात-दिन प्रसन्न रहती हैं।

यहाँ सीताजी के मुख की उपमा अन्य कमल से नहीं, वरन् श्वेत कमल से दी गई है; क्योंकि अंग-गोराई की उपमा कवि-परिपाटी के अनुसार सोनजुही (स्वर्ण-यूथिका), चंद्रिका, चंपक, चपला, चामीकर और अमल कमल इत्यादि से ही दी जाती है। यथा—

'गहरी गुराई सों प्रथम चूमि चामीकर
चांपक के ऊपर बहुरि पाय रोप्यौ है।
तीसरे अमल अरबिंद आभा बस करि
हँसि करि तड़ित को तोयद में तोप्यौ है॥
भनत कवींद तेरे मान समै सौतें कहा?
सुर-बनितान को गुमान जात लोप्यौ है।
मेरी जान आली आज ऐंड़ भयो तेरो मुख
भौंहें तान सौंहें री कलानिधि पै कोप्यौ है॥'
—कवींद्र।

'देखत सोनजुही फिरत सोनजुही-से अंग।
दखि लपटन पट सेत हू करत बनौटी रंग॥'
— बिहारी।

यहाँ यह शंका नहीं की जा सकती कि 'चंपक' और 'चामीकर' तो कदाचित् अंग की गोराई की उपमा के लिए आ भी सकते, पर चपला, चंद्रिका वा अमल कमल (यहाँ 'अमल' से श्वेत का अर्थ ही ग्रहण किया गया है) गोराई के उपमान कैसे हो सकते हैं? वरन् ऐसा करना एक प्रकार का दोष हो जाता है। क्योंकि किसी के शरीर का रंग अगर उजला हो तो लोक-व्यवहार में उसे एक प्रकार की बीमारी (श्वेत कुष्ट) मानते हैं। पर कवि-परंपरा में ऐसे दोष नहीं लिए गए हैं। सुतरां उक्त पद्य में कमल से श्वेत कमल ही लेना उचित है।

एक बात और। अन्य ऋतुओं के कमल की उपमा न देकर शरद् ऋतु के कमल का उल्लेख किया गया है। इसमें भी कवि का विशेष अभिप्राय निहित है। शरद् ऋतु प्राकृतिक निर्मलता के लिए प्रसिद्ध है। वर्षा ऋतु के द्वारा की गई गंदगी को यह दूर कर देती है—प्रकृति साफ-सुथरी हो जाती है। आकाश, पवन, जल सब-कुछ निर्मल हो जाते हैं। ऐसी दशा में शरद् ऋतु के कमल का भी निर्मल होना स्वाभाविक है और साधारण कमल की अपेक्षा निर्मल कमल कुछ विशेषता अवश्य रखता है। फिर शरद् ऋतु स्वयं स्वतंत्र रूप से उज्ज्वलता की उपमा के लिए आती है। इस तरह 'प्रौढ़ोक्ति' अलंकार के अनुसार कमल की स्वाभाविक श्वेतता में शरद् ऋतु की स्वच्छता मिल जाने से श्वेताधिक्य आ जाता है; इसलिए कवि का

अभिप्राय है कि साधारण कमल तो क्या, शरद् ऋतु का कमल भी सीताजी के मुख की छटा की समता नहीं कर सकता और यही 'सरद'-पद में ध्वनि है।

अलंकार—इसमें 'व्यतिरेक' और प्रौढ़ोक्ति का संकर है। (१) व्यतिरेक का द्वितीय रूप है; लक्षण का उल्लेख पहले हो चुका है। (२) प्रौढ़ोक्ति का लक्षण—

जो न हेतु उत्कर्ष को कियो सु-कल्पित हेतु।
'पदमाकर' कवि कहत हैं 'प्रौढ़ोकति' है चेतु॥

विवरण—वर्ण्य के उत्कर्ष का जो कारण न हो, उसे यदि कारण कल्पना किया जाय, तो वहाँ 'प्रौढ़ोक्ति' अलंकार होता है। जैसे—

ईस सीस के चंद सों अमल आठहू जाम।
सुरसरि तट की बरफ तें धवल सुजस तव राम॥

शिवजी के सिर पर रहने के कारण चंद्रमा में और गंगा-तट पर जमने के कारण बर्फ में अमलता फौर धवलता कुछ बढ़ नहीं जाती, किंतु कवि ने चंद्रमा और बर्फ की उज्ज्वलता के बढ़ने का कारण शिवजी और गंगा का संसर्ग कल्पना कर लिया है। अतएव यहाँ 'प्रौढ़ोक्ति' है।

बड़े नयन कुटि भ्रुकुटी भाल विशाल।
तुलसी मोहत मनहिं मनोहर बाल॥४॥

शब्दार्थ—कुटि=टेढ़ा, बाँका। विशाल=लंबा—चौड़ा; विस्तृत।

पद्यार्थ—सीताजी के नेत्र बड़े-बड़े हैं, भौंहें टेढ़ी-टेढ़ी हैं और ललाट विशाल (विस्तृत) है। उनके सुन्दर बाल मन को मोह लेते हैं।

विवेचन—इस छंद में सीता जी के रूप का स्वाभाविक वर्णन है। जान पड़ता है, देखने वाले की दृष्टि मजे में रूप-लावण्य की सैर * कर रही थी। वह नयन भ्रुकुटी और भाल-जैसे मशहूर

* कवि का मनचला मन अपनी प्यारी दृष्टि के हाथ से हाथ मिला कर रूप-लावण्य की किस प्रकार सैर करता है, वह नीचे के उद्धरणों से भली भाँति व्यक्त होता है—

मंजुल मुकुट केरे निकट घरीक रह्यो,
उतते उचटि लोनी लटनि मैं लटि गो।
कहै 'बलिभद्र' लोनी लट में उलटि फेरी,
ग्रीवा कल कंठकी निकाई में समटि गो॥
भूलो-भूलो फिरो फेरि भाई-सी भुजान बीच,
अंगुरिन नाभी ते अचाक आइ छंटि गो।
कटि को न आयो मन अटको निपट आली
कटि के निकट पीतपट में लपटि गो॥

—बलभद्र

कुचगिरि चढ़ि अति थकित ह्वै चली दीठ मुँह चाड़ि।
फिरि न टरी परियै रही गिरी चिबुक की गाड़ि।

—बिहारी

पड़ावों पर टिकता हुआ आगे बढ़ा मगर सुलझे हुए बालों के 'मनोहर' टिकान पर आकर सहसा उलझ गया—आगे एक कदम भी न जा सका। वाह! सचमुच बाल ने कमाल कर डाला है!

एक और कवि ने ठीक इतने-ही अंगों में इसी से मिलता-जुलता स्वाभाविक रूप-वर्णन किया है। जैसे—

"बड़े दिलदार बड़े-बड़े बार बड़ी-बड़ी भौंह बड़ी-बड़ी आँखें।"

इसमें 'बड़े' विसेषण में बड़ी जान है। इस एक शब्द ने नायिका के सौंदर्य को और साथ ही इस पद्य को भी चमका दिया है। गुसाइँ जी ने 'बड़े' तथा उसके समानार्थी शब्द का प्रयोग किया है; किंतु भ्रुकुटी के लिए 'कुटी' विशेषण ही चुना—सवैया की तरह 'बड़ी-बड़ी' से काम न लिया। ऐसा करने में गुसाइँ जी का कुछ विशेष अभिप्राय जान पड़ता है।

रूप-वर्णन करने में ध्यान रखने की बात है कि किस अंग का कैसा वर्णन अधिक आकर्षक होगा। अस्तु, भौंह के लिए 'बड़ी' विशेषण लिखना यद्यपि अनुचित नहीं, तथापि 'कुटि'-पद विशेष उपयुक्त और अपेक्षाकृत अधिक सापेक्ष, अर्थ-गर्भित एवं बल-संबलित है।

'कुटिल' का टेढ़ा और छलिया दोनों-ही अर्थ ग्रहण होते हैं। भ्रुकुटी के लिए प्रयुक्त 'कुटिल' विशेषण का एक साथ उक्त दोनों अर्थों में व्यवहार किया गया है। यदि केवल टेढ़ी-अर्थ में इसका

प्रयोग होता तो कदाचित् इसमें कोई चमत्कार नहीं आता, वरन् अनावश्यक हो जाता। क्योंकि भौंहें टेढ़ी हर किसी की होती हैं— सीधी रेखा [Straight line] की तरह किसी की भौंह नहीं देखी जाती। ऐसी दशा में साधारण अर्थ में, 'कुटिल' शब्द लिया जाय तो सीता जी की भौंह मामूली भौंह ही रह जाती हैं, इसलिए 'कुटिल' से छलिया-अर्थ भी ग्रहण किया गया है। उस दशा में भावार्थ होगा—'वह बाँकी भौंह जो देखने वाले के मन को बरबस छल ले।' ऐसी भौंह हर किसी की नहीं होती। जिनकी आँखें हैं, उनके कलेजे को, ऐसी भौंह, तने हुए कमान से छूटनेवाले तीर की तरह घाव किए बिना नहीं रहती। ऐसी भौंह के लिए फिर बड़ी-बड़ी कहने की जरूरत नहीं रह जाती; क्योंकि बगैर बड़ी हुए भौंह बाँकी हो-ही नहीं सकती। अतएव तुलसी दास जी ने एक-ही 'कुटि'-पद से भौंह का वह बाँकापन व्यक्त किया है जो बड़ी होने के साथ देखने वाले के दिल पर जादू डाल जाती है। सुतरां, 'भ्रुकुटी' के साथ 'कुटि' का संयोग अर्थ-लालित्य के साथ शब्द- सौंदर्य की सृष्टि करने में भी खास कमालियत रखता है।

बरवै के दूसरे चरण का 'मनोहर बाल' एक भोली-भाली मनोहर 'बाल' की भाँति-ही मन को मोहने वाला है। केशों के वर्णन में रसिक शिरोमणि महाकवि बिहारी ने दिल में सीधे चुभने वाली नुकीली बरछी की तरह कितनी-ही उक्तियाँ कही हैं; पर

'तुलसी मोहत मनहिं मनोहर बाल' में जो सारल्य और बाल की मनोहारिकता में जो पवित्रता है, वह बिहारी के 'छुटी छुटावत जगत तें लटकारे सटकार' और 'काको मन बाँधत न यह जूरो बाँधनिहारि' में कहाँ ? जहाँ बरवै का 'मनोहर बाल' एक बालक की भोली सूरत की भाँति मन को मोहता है, वहाँ दोहे की 'जूरो बाँधनिहारि' आँखें मटकाने वाली बाजारू वनिता की तरह अपनी 'सटकारी लटों' से देखने वाले के दिल को बाँध लेती है। कितना अंतर है !

अलंकार— 'स्वभावोक्ति'।

लक्षण—जाको जैसो रूप गुन बरनत ताही साज।
स्वभावोक्ति भूषण तहाँ कहैं सबै कविराज ॥

विवरण—जहाँ किसी वस्तु (वर्ण्य) के स्वाभाविक रूप, गुण, व्यवहार आदि का कथन हो वहाँ यह अलंकार होता है। यहाँ सीताजी के कथित अंगों का स्वाभाविक वर्णन किया गया है—कुछ भी बढ़ा-घटा कर नहीं, इसलिए यहाँ स्वाभावोक्ति अलंकार है।

चम्पक हरवा अँग मिलि अधिक सुहाइ।
जानि परै सिय हियरे जब कुम्हिलाइ ॥५॥

शब्दार्थ—चंपक हरवा = चंपा फूल का हार। हियरे=हृदयपर।

अर्थ—चंपा फूल का हार सीताजी के अंग की गोराई के साथ

मिल कर अधिक शोभा दे रहा है। सीता के हृदय पर चंपक-माला तभी जान पड़ती जब वह कुम्हिला जाती है।

विशेष—चंपक-हार का रंग और सीता जी के शरीर की गोराई एक-सी होने के कारण हार का रंग अंग-गोराई में बिल्कुल मिल गया है और इस प्रकार शरीर के रंग को और भी तेज बना डालता है। यहाँ विचारने की बात यह है कि शरीर का रंग हार के रंग में नहीं मिलता वरन् हार का ही रंग शरीर के रंग में विलीन हो गया है, इसीलिए हार नहीं दिखाई पड़ता—अन्यथा हार-ही दिखाई देता और शरीर का रंग उसमें विलीन हो जाता। इससे दो बातों का पता चलता है। एक तो शरीर का रंग चंपक-सा होता हुआ भी प्रधान है। दूसरी यह कि शरीर के रंग ने चंपक के रंग को छीन कर अपनी शक्ति बढ़ा ली।

अलंकार—(१) पद्य के प्रथम चरण में 'अनुगुण' और (२) दूसरे चरण में 'उन्मीलित अलंकार है।

लक्षण—(१) जहाँ और के संग तें, बढ़ै आपनो रंग।
ता कहँ अनुगुन कहत हैं, भूषण बुद्धि उतंग॥

विवरण—जहाँ दूसरे की संगति से किसी के स्वाभाविक गुणों का अधिक विकसित होना वर्णन किया जाय वहाँ 'अनुगुण' अलंकार होता है। यहाँ चंपक-हार के द्वारा सीता जी के स्वाभाविक अंग-रंग की वृद्धि हुई वर्णित की गई है, इसलिए प्रथम चरण में 'अनुगुण' अलंकार है।

(२) सदृस वस्तु में मिलत पुनि जानहु कौनहु हेत।
उन्मीलित तासों कहत भूषन सुकवि सचेत ॥

विवरण - जहाँ पहले सदृश वस्तु में कोई वस्तु मिल जाय, किंतु फिर किसी कारण से उसका ज्ञात होना वर्णन किया जाय, तो उसे 'उन्मीलित' अलंकार कहते हैं। यहाँ सीताजी के अंग के समान रंग में मिल जाने के कारण जो चंपक-हार दिखाई नहीं पड़ता था, वह कुम्हला जाने पर दिखाई देने लगा। अतः यहाँ 'उन्मीलित' अलंकार है।

सिय तुव अंग-रंग मिलि अधिक उदोत।
हार बेलि पहिरावों चंपक होत ॥६॥

शब्दार्थ—तुव=तुम्हारा। उदोत=कांति।

पद्यार्थ—हे सीते! तुम्हारे शरीर के रंग से मिलने के कारण बेले के हार की कांति बढ़ जाती है, क्योंकि तुम्हें जब मैं बेले का हार पहनाती हूँ तब वह चंपा का हार बन जाता है।

विशेष—ध्वनि है कि महारानी सीताजी के रूप-कोष में सौंदर्य की अटूट मुहरें भरी हुई हैं; किंतु इनकी यह विभूति कंजूस की संपत्ति के समान व्यर्थ नहीं है, वरन् वह एक उदार सम्राट् के खजाने की तरह सदैव गरीबों के लिए खुली रहती है। देखो न, इसी से तो बेचारा दरिद्र बेला उनके निकट पहुँचते-पहुँचते धनी चंपा बन जाता है—बड़ों की साया (संगति) पाते-ही एक अकिंचन भी बड़ा आदमी बन जाता है।

अलंकार—इस में 'तद्गुण' अलंकार है।

लक्षण—जहाँ आपनो रंग तजि गहै आन को रंग।
ताको तद्गुण कहत हैं भूषण बुद्धि उतंग॥

विवरण—'रंग' से यहाँ तात्पर्य रूप, रंग, गुण, स्वभावादि से है। 'बरवै' में बेला ने अपना रंग छोड़ कर चंपा का-सा अंग-रंग ग्रहण कर लिया, इसलिए इसमें 'तद्गुण' * अलंकार है।

सूचना—गोस्वामी तुलसीदास जी ने यहाँ तक तो सीताजी के ही रूप-गुणों का वर्णन किया है; अब आगे श्री रामचन्द्रजी के रूप-गुणों का वर्णन करते हैं।

बरवै-रामायण में श्री रामजी के पहले श्री सीता के सौंदर्य का जो वर्णन किया गया है, उसके संबंध में दो बातें कही जा सकती हैं। बरवै स्त्री-समाज में गाया जाता है और भारतीय शिष्टाचार-पद्धति में पुरुष से अधिक स्त्री की मर्यादा का ख्याल किया जाता है। सीता तो आदि शक्ति ही हैं।

*'तद्गुण' का एक और उदाहरण बहुत सुंदर है—

उदी होति नील मनि बरनि सकत कौन,
चुनी छिपि जात नीठि नीठि दीठि ना परैं।
जानि जानि जौहरी जवाहिर धरे हैं ढाँपि
पीरे होत पेडू सों भगोई छवि को धरैं।
लेन-देन बनि हैं न घटि है हमारो माल
आपनी अनोखो यह सोरहों गुना करै।
बाल हाथ मुकुता प्रबाल सम ह्वै-ह्वै जात
कासीनाथ रखत रुपैया होत मुहरैं॥
—काशीनाथ।

साधु सुशील सुमति सुचि सरल सुभाव।
राम नीति-रत काम कहा यह पाव ॥७॥

शब्दार्थ—साधु=कष्ट-सहिष्णु। सुशील=नम्र। सुमति=सुन्दर बुद्धिवाला। सुचि (शुचि)=पवित्र आचरण का। नीति-रत=नीति के अनुसार काम करने वाला।

पद्यार्थ—श्री रामचंद्र जी साधु, सुशील, अच्छी बुद्धि वाले, पवित्र आचरण, सरल प्रकृति (छल रहित) और नीति के अनुसार चलने वाले हैं। कामदेव में ये गुण कहाँ? ऐसी दशा में राम की समता काम से कैसे की जा सकती?

विशेष—यद्यपि शारीरिक सुन्दरता में कामदेव राम के समान है तथापि रामचन्द्र कामदेव से कई उत्तम गुणों में बढ़े हुए हैं। क्योंकि कामदेव में इन गुणों का सर्वथा अभाव-ही है। जहाँ राम साधु हैं, वहाँ कामदेव असाधु है; जहाँ राम सुशील हैं वहाँ काम दुश्शील है; जहाँ राम शुचि वा सन्मार्गगामी हैं, वहाँ काम असन्मार्ग में ही जाने और ले जाने वाला है इत्यादि। इस प्रकार रामचंद्र की उपमा के योग्य कामदेव कदापि नहीं है।

'काम कहा यह पाव'—पद से ध्वनि निकलती है कि रामचन्द्र संसार में अनुपम पुरुष हैं; हाँ, सुंदरता में साम्य रखनेवाला कामदेव कदाचित् मुकाबले में खड़ा किया जाय तो वह भी रामचन्द्र से आँखें मिला नहीं सकता, क्योंकि उसमें केवल शारीरिक सौंदर्य है, हृदय की सुंदरता बिलकुल नहीं; किंतु रामचंद्र

का बाल्यरूप जैसा अपूर्व सौंदर्य-संपन्न है, वैसा-ही अंतःकरण भी उदात्त गुणों से युक्त है।

अलंकार—यहाँ 'व्यतिरेकालंकार' है। लक्षण पहले कहा जा चुका है।

कुंकुम तिलक भाल श्रुति कुंडल लोल।
काक पच्छ मिलि सखि कस लसत कपोल ॥८॥

शब्दार्थ—कुंकुम=केशर। तिलक=टीका। स्रुति (श्रुति)= कान। लोल=चंचल; डोलता हुआ। काक पच्छ=जुल्फ। कस=कैसा। लसत=शोभता है। कपोल=गाल।

पद्यार्थ—सखियों ने जब श्री रामचंद्र जी के ललाट पर केशर का तिलक लगा कर कानों में कुंडल पहनाए, तब उनकी बढ़ती हुई शोभा का वर्णन करती हुई जनकपुर की सखियाँ आपस में कहने लगीं—हे सखि! कानों के पास दोनों ओर लटकती हुई काली और चिकनी जुल्फों तथा कानों से हिलते हुए कुंडलों से इनके कपोलों की शोभा कैसी बढ़ रही है! अर्थात् जुल्फ और कुंडलों के प्रतिबिंब कपोलों पर पड़ रहे हैं। ध्वनि है कि रामचंद्र जी के कपोल शीशे के समान कांतिमान हैं; तभी तो उन पर कुंडलादि के प्रतिबिंब पड़ते हैं।

अलंकार—इसमें 'शब्द-मूला काकु वक्रोक्ति' अलंकार है।

लक्षण—जहाँ शब्द ध्वनि भिन्नतें आशय जुदो लखाय।
सो वक्रोक्ति काकु है कविवर कहैं बुझाय ॥

विवरण—यहाँ 'कस लसत कपोल' में कंठ-ध्वनि से अपूर्व शोभा का अर्थ व्यंजित होता है।

भाल तिलक सर सोहत भौंह कमान।
मुख अनुहरिया केवल चंद्र समान ॥९॥

शब्दार्थ—सर=तीर। कमान=धनुष। अनुहरिया=अनुरूप।

पद्यार्थ—श्रीरामचंद्र के ललाट पर चंदन की रेखाएँ सुंदर वाण हैं और भौंह धनुष-रूप हैं। मुख की अनुरूपता में केवल चंद्रमा-ही ठहराया जा सकता है।

विशेष—यहाँ 'सर' से कामदेव के प्रसिद्ध पंचवाण का अभिप्राय है। कामदेव के पंचवाण ये हैं:—मारण, मोहन, उच्चाटन, आकर्षण और वशीकरण। इनमें से मारण, उच्चाटन और आकर्षण अशुभ हैं और शेष दो अर्थात् मोहन तथा वशीकरण शुभ हैं। अतएव यहाँ मोहन और वशीकरण ये दो-ही लिए गए हैं। दो की आवश्यकता भी थी, क्योंकि रामचन्द्र की तिलक-रेखा में ये-ही दो गुण—मोहन और वशीकरण हैं। इसके सिवा तुलसीदास जी रामानंदी-संप्रदाय के वैष्णव थे। इसलिए उनके इष्टदेव राम तथा उनके अनुयायी लोग भी दो उर्ध्व रेखाओं का तिलक लगाते थे। तिलक की इन खड़ी रेखाओं के लिए वाणों की उपमा बड़ी उपयुक्त जँचती है। यह 'सर सोहत' पद से भी पुष्ट होता है। 'सोहत' का अर्थ 'शुभ' लगाना चाहिए। अर्थात् कामदेव के

शुभ वाणों के समान ही तिलक की रेखाएँ हैं और पंच वाण में मोहन और वशीकरण ये ही दो शुभ वाण हैं।

'मुख अनुहरिया केवल चंद्र समान'—यहाँ 'अनुहरिया' का अर्थ चेष्टा या अनुरूपता है। अर्थात् मुख की चेष्टा केवल चंद्रमा के समान है। तात्पर्य यह कि यद्यपि कवियों ने मुख के लिए कमल, चंद्रमा आदि कितने-ही उपमान गढ़ रखे हैं, पर अन्य कोई भी उपमान राम-मुख के लिए उपयुक्त नहीं ठहरते—केवल चंद्रमा-ही मुख- साम्य के योग्य जँचता है। लक्षणा से भाव यह आता है कि मुख की ओर देखते-ही सखियों के नेत्र चकोरवत् उसी में लीन हो जाते हैं—पलकें नहीं गिरतीं।

अलंकार—प्रथम चरण में 'सम अभेद रूपक' और दूसरे चरण में 'नियमोपमालंकार' है।

१—लक्षण—उपमा अरु उपमेय तें वाचक धर्म मिटाय।
एकै कै आरोपिए सो रूपक कविराय॥

यहाँ उपमेय 'तिलक' का (वाचक और धर्म लोप कर) उपमान 'सर' में आरोप किया गया है। फिर भौंह का 'कमान' में आरोप किया गया है। अतएव दोनों ही 'सम अभेद रूपक' हैं।

२—लक्षण—याकी उपमा है यही ऐसे नेम निभाय।
वरनै कविवर उक्ति जहँ नियमोपमा लखाय॥

विवरण—इसका वाचक-पद 'ही' और 'केवल' है। यहाँ मुख की उपमा-'केवल चंद्रमा' कहा गया है, इस लिए 'नियमोपमालंकार' है।

तुलसी बंक बिलोकनि मृदु मुसुकानि ।
कस प्रभु नयन कमल अस कहौं बखानि ॥१०॥

शब्दार्थ—बंक=तिरछी; बाँकी। बिलोकनि=दृष्टि; चितवन। मृदु=मधुर।

पद्यार्थ—श्री रामचंद्र जी की चितवन तिरछी और मुसकान मधुर हैं, ऐसी दशा में उनके नेत्रों को कमल के समान किस प्रकार कहा जाय।

विशेष—भगवान रामचंद्र के नेत्रों की दो सबसे बड़ी विशेषताएँ हैं। एक तो चितवन तिरछी है अर्थात् करुणापूर्ण होने के कारण साधुओं के दुःख दूर करने वाली है; दूसरे मुख पर मृदु मुसकान होने के कारण उसका प्रतिबिंब आँखों पर भी पड़ता है, इसलिए आँखें भी हँसती-सी जान पड़ती हैं। अस्तु, इन हँसोड़ नेत्रों को देखते-ही चित्त आनंद से परिपूर्ण हो जाता है। इसके सिवा दोनों में एक महान विभेद और भी है। वह यह कि कमल को शत्रु चंद्रमा का भय बना रहता है, किंतु रामचंद्र की तिरछी चितवन [कृपा-कटाक्ष] जिस पर पड़ती है, उसे शत्रु का भय नहीं रहता। अतएव कमल रामचंद्रजी के नेत्रों की उपमा के योग्य कैसे हो सकता ?

अलंकार—इसमें 'चतुर्थ' प्रतीप अलंकार है।

लक्षण—उपमान जु उपमेय की समता जोग न होत।
तुव सुंदर मुख सो ससिहिं क्यों भाषै कवि गोत॥
—पद्माकर।

यहाँ उपमेय-नेत्र के योग्य उपमान-कमल नहीं हुआ, इसलिए चतुर्थ प्रतीप है।

कामरूप सम तुलसी राम-स्वरूप ।
को कवि समसरि करै परै भव-कूप ॥११॥

शब्दार्थ—समसरि=सब प्रकार से समानता । भवकूप= संसार रूपी कूआँ; पाप का खंदक ।

पद्यार्थ—श्री रामचंद्र जी का रूप कामदेव के समान है— ऐसी समानता कर कौन कवि पाप के गढ़े में पड़े !

विशेष—रूप, स्वभाव, गुण, कर्म और धर्म आदि सब बातों में जहाँ समानता हो वहाँ 'समसरि' का प्रयोग किया जाता है; अन्यथा इनमें से एक अंग भी प्रतिकूल हो तो 'विषम सरि' शब्द का प्रयोग किया जायगा। किंतु यहाँ केवल रूप-लावण्य की समानता है—गुण, कर्म आदि में विरोध पाया जाता है। जहाँ रामचंद्र जी साधुओं को सुख देने वाले, दयालु और उदार हैं; वहाँ कामदेव क्रूर, निष्ठुर और सज्जनों को कष्ट पहुँचाने वाला है। अतएव रामचंद्र जी के लिए कामदेव की उपमा व्यर्थ है।

अलंकार—इसमें 'पंचम प्रतीप' अलंकार है।

लक्षण—लखि उपमेयहिं को जहाँ व्यर्थ होत उपमान।
कछु न कंज लखि वदन यों पंच प्रतीप प्रमान ॥
—पद्माकर।

सूचना—जहाँ काम का जन्म जीव को संसारी बनाने के लिए है, वहाँ राम का अवतार जीवों को सांसारिक बंधन से छुड़ाने के निमित्त है। इस प्रकार यहाँ कवि ने संकेत से राम-जन्म के हेतु का उल्लेख किया है। अतएव 'बरवै' मानो बाल कांड की प्रस्तावना है।

चढ़त दसा यह उतरत जात निदान।
कहउँ न कबहूँ करकस भौंह कमान ॥१२॥

शब्दार्थः—निदान=अंत में। करकस=कठोर।

अर्थः—श्री रामचंद्र जी की भौंहें सदा चढ़ती हुई दशा में (तनी हुई) रहती हैं; और काम का धनुष चढ़ता तो है, पर अंत में उतर जाता है। फिर काम-धनुष कठोर है और भौंहें कोमल। अतएव समता के अयोग्य जानकर भौंह की उपमा में कामदेव के धनुष को, मैं कभी नहीं कहूँगा।

विशेषः—रामचंद्र जी की किशोरावस्था है; अस्तु, जैसे-जैसे वह यौवन-संधि के निकट आते हैं, वैसे-वैसे भौंहें उत्तरोत्तर चढ़ती ही जाती हैं, किंतु काम का धनुष संयोग पाकर चढ़ता तो है, पर अंत में वह उतर कर ही रहता है। इसके अतिरिक्त काम के धनुष में स्वाभाविक कठोरता है और उसके कर्म भी कठोर हैं, क्योंकि उसके द्वारा काम जीवों के मन को बेधता—मथ डालता है (इसी लिए उसे मन्मथ कहते हैं), किंतु राम की तनी हुई भौंहें कोमल और माधुर्य-पूर्ण होने के सिवा सज्जनों की परिपालिका भी हैं।

नोट—इसमें भी 'पंचम प्रतीप' अलंकार है। लक्षण पहले आ चुका है।

नित्य नेम कृत अरुण उदय जब कीन ।
निरखि निसाकर नृप-मुख भये मलीन ॥१३॥

सूचना—गुसाईं जी इसके पूर्व सीता और राम युगल-मूर्त्ति की स्वरूप-शोभा का वर्णन कर चुके। अब संक्षेप में सातों कांडों की लीला का वर्णन करते हैं। यहाँ रामचंद्र जी के जनकपुर पहुँच जाने के बाद से कथा का प्रारंभ किया गया है।

अर्थः—नित्य कर्म करने के बाद जब श्री रामचंद्र जी धनुष-यज्ञ के स्थान में इकट्ठे हुए राजाओं के बीच सूर्योदय के समान उपस्थित हुए, तब उन्हें देखते-ही राज-समाज रूपी चंद्रमा म्लान हो गया।

विशेषः—धनुष-भंग करने की आशा में आए हुए राजाओं का मुख जो प्रसन्नता से चंद्रमा के समान खिल रहा था, रामचंद्र रूपी सूर्य के उदित होते ही (राज सभा में आते ही), वह फीका पड़ गया, अर्थात् रामचंद्र जी के अद्भुत चरित्र—अहिल्योद्धार और विश्वामित्र की यज्ञ-रक्षा का समाचार—सुनते ही उनके बल-प्रताप से राजागण सशंकित हो गए।

अलंकारः—'सांग रूपक'।

लक्षणः—अंग या सामग्री के सहित उपमान का उपमेय में आरोप हो, उसे 'सांग-रूपक' कहते हैं, किंतु यह 'आर्थी एक देश विवर्ति सांग रूपक' है। क्योंकि यहाँ आरोप्य मान (जिस का आरोप किया जाय) अर्थ के द्वारा बोध होता है। 'अरुण'

का आरोप रामचंद्र में किया गया है, पर रामचंद्र का बोध कराने के लिए यहां कोई शब्द नहीं है। केवल 'नृपमुख' आदि शब्दों की निकटता से रामचंद्र का आरोप ऊपर से किया गया है। इस लिए इसे 'आर्थी-एक देश-विवर्त्ति-सांग रूपक' कहेंगे।

कमठ पीठ धनु सजनी कठिन अँदेस।
तमकि ताहि ये तोरिहिं कहब महेस ॥१४॥

शब्दार्थ:—कमठ=कछुआ। अँदेश=चिंता। तमकि=सहजही।

अर्थ:—हे सखि, शिवजी का धनुष कछुए की पीठ के समान कठोर है। बड़ी चिंता की बात है! इसको जिसमें ये (रामचंद्रजी) सहज में ही तोड़ डालें—ऐसी प्रार्थना हमलोग भगवान शंकर से करें!

विशेष:—सीता जी की सहचरियों ने जब से रामचंद्र जी को देखा है, तब से उनके हृदय में, इस अभिलाषा ने घर कर लिया है कि रामचंद्र जी के साथ ही सीता जी का विवाह हो, पर उनकी इस अभिलाषा की पूर्त्ति में सब से बड़ी वाधा धनुष-भंग की प्रतिज्ञा है। अब वे एक ओर धनुष की कठोरता का खयाल करतीं और दूसरी ओर रामचंद्र जी के सुकुमार कोमल हाथों का। अतएव स्वभावतः उनके हृदय में चिंता पैदा होती है। इस 'अँदेश'—पद में एक दुनिया छिपी हुई है, जो सखियों के हृदय की तहों को एक-एक कर खोल—बिखेर रहा है। राम-सीता का व्याह देखने की प्यास से आतुर हुई सखियाँ अपनी कामना-पूर्त्ति

का दूसरा उपाय न देख आपस में विचार करती हैं—"क्योंकि यह शिवजी का धनुष है, इसलिए हमलोग भगवान शंकर से ही कहें, जिसमें श्री रामचंद्र जी के हाथों धनुष टूट जाय।" अस्तु, यहाँ अन्य देवताओं की चर्चा न कर 'महेश' से विनय करना साभिप्राय प्रयोग है। इसके सिवा उनका विश्वास है कि महेश भोले भाले देवता हैं—आशुतोष हैं; अतएव, जल्दी-से-जल्दी काम बनाने के लिए महादेव को ही मनाना उपयुक्त होगा।

अलंकार—'वाचक लुप्तोपमा'।

लक्षणः—पूर्णोपमालंकार के चारो अंगों (उपमेय, उपमान, वाचक और धर्म) में से यहाँ वाचक-पद लुप्त है अर्थात् 'धनु' उपमेय, 'कमठ-पीठ' उपमान, और 'कठिन' धर्म है; 'समान'—वाचकपद का लोप है, इसलिए 'वाचक लुप्तोपमालंकार' है।

नोट—बरवै का 'कठिन' पद बड़ा ही ललित है। 'देहली-दीपक' अन्याय से इसका समन्वय 'कमठ-पीठ धनु' और 'अँदेस' दोनों के साथ हो जाता है और इस प्रकार यह दोनों पदों के अर्थ को चमका देता है, ऐसा अर्थ किये जाने पर इसमें 'देहली-दीपक' अलंकार भी होगा।

नृप निरास भये निरखत नगर उदास।
धनुष तोरि हरि सब कर हरेउ हरास ॥१८॥

शब्दार्थः—हरास=आशंका, दुःख।

अर्थः—जब दम-भर चेष्टा करने पर भी राजाओं के द्वारा

धनुष नहीं टूटा और वे हार कर निराश हो बैठ गए, तब राजाओं की यह हालत देख कर नगर के सभी लोग उदास हो गए। इसके बाद रामचंद्र जी ने धनुष को तोड़ कर सभी के दुखों को दूर कर दिया।

विशेषः—'नगर उदास' पद का अर्थ रूढ़-लक्षणा से नगर-निवासियों का दुखी होना सिद्ध है। भाव यह है कि जनक जी पृथ्वी को वीर-विहीन जान कर, सीता के विवाह की निराशा से दुखी हुए; राजा जनक ने राजाओं को धनुष नहीं तोड़ने के कारण मर्मभरी फटकार सुनाई; जिसे सुनकर नगर के लोग इस आशंका से दुखी हुए कि कहीं राजागण एक साथ मिलकर जनक जी के ऊपर हमला न कर बैठें। इसी प्रकार 'सब कर हरेउ हरास' में ध्वनि है कि धनुष नहीं टूटने के कारण जिसके मनमें जो चिंता थी वह जाती रही—सभी उत्फुल्ल हो उठे। जैसे सीता ने प्रसन्न होकर राम जी के गले में जयमाल डाली, जनक जी ने प्रसन्न हो कर अयोध्या को दूत भेजा और इस प्रकार अयोध्या में भी सब-कहीं आनंद की लहरें उठने लगीं।

भगवान रामचंद्र के लिए यहाँ 'ही' शब्द का प्रयोग कैसा उपयुक्त और मनोहर हुआ है, वह कहने की आवश्यकता नहीं। 'हरास—हरने' के लिए रामचंद्र का 'हरि' नाम ही-योग्य हो सकता है। यहाँ 'हरि' शब्द में 'वाच्य-वैशिष्ट्य व्यंग' है जिसने पद-लालित्य लाकर अर्थ-चमत्कार को दूना कर दिया है।

अलंकार—'तृतीय प्रहर्षण' और 'परिकर'।

(१) लक्षण—ढूँढ़त जाके जतन को वस्तु चढ़ै कर आन।
तृतिय प्रहर्षण ताहि कवि कहत जे बुद्धि निधान॥

यहाँ जनकपुर-निवासी धनुष तोड़ने वाले को ढूँढ़ रहे थे अथवा सब चाह रहे थे कि रामचंद्र जी से ही सीता का व्याह हो, उनकी यह कामना स्वतः सिद्ध हो गई।

(२) लक्षणः—जहाँ साभिप्राय विशेषण से विशेष्य का कथन किया जाय, वहाँ 'परिकर' अलंकार होता है यहां रामचंद्र के लिये 'हरि' साभिप्राय विशेषण पद है, अतः 'परिकर' अलंकार सिद्ध है।

का घूँघट मुख मूँदहु नवला नारि।
चाँद सरग पर सोहत यहि अनुहारि॥१६॥

शब्दार्थः—नवला नारि=नवबधू। सरग=सरंग, आकाश। अनुहारि=अनुरूप, अनुसरण करो।

अर्थः—अयि नयी दुलहिन, घूँघट के अंदर मुँह को क्यों छिपाती हो ? देखो, तुम्हारे मुख के अनुरूप चंद्रमा आकाश पर शोभित है। (तुम्हें भी उसी का अनुसरण करना चाहिए)।

विशेषः—प्रसंग जनकपुर का है। सियावर श्रीराम को देखने के लिए नगर से सीता की सम-वयस्का सहेलियाँ आती हैं, पर श्रीराम के संकोच के कारण घूँघट काढ़ लेतीं। यह देख कर विनोद से श्रीरामचंद्र जी कहते हैं:—तुम रूप-राज्य की महारानी होकर इस प्रकार कंजूस क्यों बनती हो ? धनियों के लिए उदार

होना शोभा है। देखो, चंद्रमा तुम्हारे जैसा ही सुंदर है किंतु इतना उदार है कि वह बिना पर्दा डाले ऊँचे स्थान पर इसलिए चढ़ा रहता कि जिसमें सबको उसके दर्शन का सुख सुलभ हो। अस्तु, चंद्रमा के समान अटूट सौंदर्य-निधि की स्वामिनी होकर फिर उससे इस अंश में पीछे क्यों रहती ? यदि तुम अपना मुख देखने नहीं दोगी तो मैं चंद्रमा को ही देख कर संतोष कर लूंगा। वैसा ही तो तुम्हारा मुख है !

यहाँ 'अनुहारि' पद में श्लेष करने से पद-लालित्य बढ़ जाता है। 'यह अनुहारि' अर्थात् इसके अनुरूप—नवबधू के मुख के अनुरूप जो चंद्रमा है, वह ऊँचे आकाश पर शोभता है। दूसरा अर्थ होगा—'यहि अनुहारि' अर्थात् इसका (चंद्रमा का) अनुसरण करो। तात्पर्य यह कि तुम भी चंद्रमा की तरह मुख को घूँघट में बिना छिपाये सब को दर्शन दो। इस प्रकार 'यहि अनुहारि' पद में 'शव्द-शक्ति-उद्भव ध्वनि' है और इसलिए यहाँ 'स्वतः संभवी वस्तु' से श्लेष अलंकार व्यंजित होता है।

अलंकार—इसमें प्रत्यक्ष रूप से 'प्रथम प्रतीप' अलंकार आया है।

लक्षण—जहँ प्रसिद्ध उपमान को पलटि करिय उपमेय।
तासों प्रथम प्रतीप कथि वरनत बुद्धि अजेय॥

विवरण—यहाँ 'चांद्रमा' प्रसिद्ध उपमान है और 'मुख' प्रसिद्ध उपमेय। पर दोनों के स्थान पलट दिए गए हैं। चंद्रमा को

उपमेय और मुख को उपमान के रूप में ही वर्णन कर उपमेय का उत्कर्ष दिखाया गया है। अतः 'प्रथम प्रतीप' हुआ।

गरब करहु रघुनंदन जनि मन माँह।
देखहु आपनि मूरति सिय कै छाँह ॥१७॥

अर्थ—हे रामचंद्र जी, आप अपनी सुंदरता का गर्व न करें। (शीशे में) अपने रूप को सीता के रूप से मिला कर देखिये; आपका प्रतिबिंब सीता के प्रतिबिंब के आगे परछाँही-जैसा जान पड़ता है।

दूसरा अर्थ—हे रामचंद्र, आप अपने सौंदर्य का गर्व मनमें न करें। सीता के सौंदर्य की छाया भी इतनी उज्ज्वल है कि आप उसमें अपना प्रतिबिंब देख सकते हैं। भला, जिस सौंदर्य की छाया ऐसी, वह सौंदर्य कैसा होगा ?

विशेष—पहले श्री रामचंद्र जी ने सीता जी की सखियों के साथ मज़ाक किया था, किंतु अब सखियों ने रामचंद्र जी को ही निशाना कर दिल्लगी की दुनाली दागी है। रामचंद्र जी सीता के साथ प्रकोष्ट में बैठे हैं। सामने बड़ा शीशा लटका हुआ है। सखियाँ आती हैं। उनकी नज़र ज्योंही शीशे पर पड़ी, कि राम और सीता के प्रतिबिंब को उसमें देख कर, उन्हें एक चोजभरी बड़ी अच्छी उक्ति सूझ गई। सीताजी का प्रतिबिंब स्वर्ण वर्ण-प्रतिम था और श्री रामचंद्र जी का सघन घनश्याम। किसी भी वस्तु की छाया काली ही होती है। बस, सखियों ने झट कह

दिया—देखिये महाराज! प्रत्यक्ष मिला लीजिए, आपकी छवि हमारी महारानी के रूप की छाया जान पड़ती है वा नहीं? प्रत्यक्ष को प्रमाण क्या? हाथ कंगन को आरसी क्या?

नोटः—यहाँ राम-सीता आलंबन-विभाव और सखियाँ उद्दीपन-विभाव हैं। सखियों ने नायक-नायिका के हृदयों में रस-उद्दीप्त करने के लिए ही आईने में दोनों के एकत्र रूप को दिखा कर सीता के रूप की प्रशंसा की है।

अलंकार—'द्वितीय प्रतीप'।

लक्षण— जहाँ होय उपमान सों उपमेय को अमान।

तहँ दूसरो प्रतीप है, नव-प्राचीन प्रमान॥

विवरण—जहाँ प्रसिद्ध उपमेय का उपमान के द्वारा अपमान किया जाय और उसका उत्कर्ष भी उपमान के उत्कर्ष से न्यून दिखाया जाय, वहाँ द्वितीय प्रतीप होता है। यहाँ सीताजी की छाँह उपमान है, इसके द्वारा उपमेय राम-रूप का अनादर किया गया। अतएव दूसरा प्रतीप सिद्ध है।

उठी सखी मिस करि कहि कहि मृदु बैन।
सिय रघुबर के भये उनींदे नैन ॥१८॥

शब्दार्थ—मिस करि=बहाना करके। बैन=वचन। उनींदे=निद्रालु।

अर्थ—सखियाँ हँस कर, मीठे वचनों में यह कहती हुई किसी बहाने से उठ गईं कि अब राम और सीता के नींद आने लगीं—चलो, इन्हें सोने दो।

विशेष—सखियों ने जब देखा कि उनके द्वारा किए गए उद्दीपन उपचार का असर आलंवन विभाव (राम और सीता) पर पड़ गया जिससे उन पर सात्विक अनुभाव के लक्षण दिखाई दिए, तब वे आपस में यह कहती हुई वहाँ से चल दीं कि अब इन्हें नींद आ रही है—सोने दो, हमलोग यहाँ से चल दें। इस पद्य में 'चेष्टा-वैशिष्ट्य आर्थी व्यंजना' स्पष्ट है। सखियों ने हँस कर बहाने की आड़ में कहा—यही चेष्टा है, इशारा है। क्या कहा ?—'सिय रघुवर के भये उनींदे नैन'। इस कथन में व्यंग्य है कि राम और सीता के मन में रति-स्थायी भाव जाग्रत हो गया, इसलिए हमारा यहाँ रहना अब उन्हें अखरेगा। बेहतर है कि हमलोग यहाँ से चल दें—इतनी सूचना व्यंग्य से प्रकट होती है। इसलिए इसमें 'चेष्टा वैशिष्ट्य अर्थ व्यंग्य' है।

अलंकार—'व्याजोक्ति'।

लक्षण—कछु मिस करि कछु और विधि कहै दुरै कै रूप।
सबै सुकवि व्याजोक्ति तेहि भूषन सुकवि अनूप॥

विवरण—जहाँ किसी प्रकट या खुलती हुई बात को छिपाने के लिए किसी बहाने से और बात कही जाय, वहाँ व्याजोक्ति अलंकार होता है। व्याजोक्ति का अर्थ है—वह कथन जिसमें कोई व्याज वा बहाना हो। यहाँ राम और सीता में रति-जनित सात्विक अनुभावों के चिह्न देख कर उसे छिपाने के लिए सखियों का बहाना करके टल जाना 'व्याजोक्ति' है।

नोट—बिलकुल यही भाव महाकवि ने भी अपने एक दोहे में व्यक्त किया है:—

पति रति की बतियाँ कही, सखी चली मुसकाय।
कै-कै सबै टलाटली अली चली सुख पाय॥

['वक्तव्य' देखिये]

सींक धनुष हित सिखन सकुच प्रभु लीन।
मुदित माँगि इक धनुही नृप हँसि दीन ॥१९॥

शब्दार्थ—सींक=एक प्रकार की घास; सीकी। सिखन=सीखने के लिए। मुदित=प्रसन्न होकर। धनुही=छोटा धनुष।

अर्थ—श्री रामचंद्र ने सींक का धनुष सीखने के ख्याल से संकोच के साथ हाथ में लिया। यह देख प्रसन्न होकर राजा दशरथ ने एक छोटी-सी धनुही मँगा कर, हँस कर रामजी को दी।

विशेष—सींक का धनुष लेने में रामचंद्रजी को संकोच इसलिए हुआ कि वह सोचने लगे कि, जहाँ मैंने शिवजी का कठोर पिनाक तोड़ डाला, परशुराम के धनुष को चढ़ा दिया, वहाँ सींक का धनुष लेते हुए मुझे लोग क्या कहेंगे! फिर राजा दशरथ की प्रसन्नता का कारण यह था कि उन्होंने समझा कि अब रामजी में वीर भाव उदित हुआ। शायद उनकी समझ में रामचंद्रजी कोरे बच्चे ही हैं। यहाँ राम के प्रति राजा दशरथ का वात्सल्यातिरेक होने से ऐसा समझना सर्वथा स्वाभाविक है। पुत्र कितना

ही बढ़ जाय, माता-पिता उसे बालक ही समझते हैं। अतएव जब राजा दशरथ ने रामजी को सींक की धनुही से खेलते देखा, तब उन्हें इस भावना से प्रसन्नता हुई कि रामचंद्र में क्षात्र-धर्म का बीज अंकुरित हो गया। फिर रामचंद्र को छोटा-सा धनुष मँगा देते समय राजा हँसे। क्योंकि, राजा की धारणा थी कि रामचंद्र बड़े-बड़े धनुष को अपने कोमल और सुकुमार हाथों से नहीं उठा सकेंगे। इस प्रकार इस छंद में वात्सल्य-रस का प्राचुर्य प्रदर्शन किया गया है।

अलंकार—'सूक्ष्म'।

लक्षण—सूक्ष्म वृत्ति लखि आन की करै क्रिया कछु भाय।
ताको नाम बखान ही सूछम सब कविराय ॥

विवरण—दूसरे का किया हुआ कोई सूक्ष्म कृत्य देख कर साभिप्राय क्रिया वा चेष्टा करना। यहां राम को सींक-धनुष लेते देख उनमें क्षात्र-धर्म का उदय समझना और उन्हें धनुष चलाना सीखने के लिए धनुही मँगा देना साभिप्राय चेष्टा है। अतएव 'सूक्ष्म' अलंकार सिद्ध है।

अयोध्या कांड

सात दिवस भये साजत सकल बनाउ।
का पूँछहु सुठि राउर सहज सुभाउ ॥२०॥

शब्दार्थ—बनाउ=बनावट; तैयारी। सुठि=सुष्टु=सुंदर; भोलीभाली। सहज=सरल, सीधा।

प्रसंग—रामचन्द्रजी के राज्यारोह का समारोह हो रहा था, घर-घर में उत्सव मनाने की तैयारी की जा रही थी, जब एक दिन शेष रहा तब दासी मंथरा, रानी कैकेयी के निकट उदास होती हुई पहुँची। कैकेयी ने उसके उदास होने का कारण पूछा, उस पर मंथरा कहने लगी:—

अर्थ—राम के राज्याभिषेक की तैयारी होते आज सात दिन बीत गए और आप बिलकुल बे-खबर हैं? आप मुझ से अनाड़ी की तरह यह क्या पूछ रही हैं? वास्तव में आप स्वभाव की बड़ी सरल और भोलीभाली हैं!

विशेष—'सात दिवस भये'—कह कर मंथरा यह बताना चाहती है कि राजा नित्य रात को आपके ही कमरे में सोते हैं

और आप समझती हैं कि राजा सब रानियों से बढ़ कर आपको मानते हैं, मगर राजा के हृदय में आपका कौन-सा स्थान है, यह इसी से जाहिर होता है कि राम को राजगद्दी दी जाने की आज सात दिनों से तैयारी हो रही है—सारे नगर में, घर-घर उत्सव की लहर फैली हुई है; पर, अपने घर के इतने महत्त्वपूर्ण विषय को आपने नहीं जान पाया। राजा ने जान-बूझ कर यह बात आपसे छिपा रक्खी है। क्या इससे आपके प्रति राजा का कपट-व्यवहार सिद्ध नहीं होता ? अतएव, इसमें 'वाच्यार्थ-व्यंग्य' है। फिर "का पूँछहु सुठि राउर सहज सुभाउ"—से अभिप्राय है कि तुम चतुर नहीं बेवकूफ हो। इस प्रकार के 'सहज सुभाउ' से दुनिया में गुजर नहीं होती। सचेत हो जाओ और अभी से अपना तथा अपने पुत्र भरत का भविष्य सुखमय बनाने का यत्न करो। अस्तु, यहाँ मंथरा व्यंग्य से राज्याभिषेक भंग कराना चाहती है।

अलंकार—'काकु वक्रोक्ति'।

लक्षण— जहाँ श्लेष वा काकु सों करहिं और ही अर्थ।
वक्र उक्ति भूषन कहैं तेहि कवि सकल समर्थ ।।

विवरण—अन्य अभिप्राय से कहे गए वाक्य का श्लेष से किंवा काकु से दूसरा अर्थ कल्पित किया जाय। यहाँ 'राउर सुठि सहज सुभाउ' का वाच्यार्थ है कि आपका स्वभाव सुंदर और सरल है, पर काकु (कंठ-ध्वनि) से इसका अर्थ हो जाता है कि आप बेवकूफ हैं। अतएव यहाँ 'काकु वक्रोक्ति' अलंकार सिद्ध है।

राज भवन सुखविलसत सिय सँग राम।
बिपिन चले तजि राज सु बिधि बड़ बाम ॥२१॥

शब्दार्थ—सुखविलसत=सुख-विलास करते थे। बिपिन=जंगल। सु=वह। बाम=कुटिल; बाएँ।

सूचना—माता-पिता की आज्ञा पाकर श्रीरामचन्द्रजी लक्ष्मण और सीता के साथ जब जंगल जाने लगे, तब नगर-निवासी उनके वियोग से दुःखी होकर इस प्रकार अनुताप करते हैं:—

अर्थ—जो श्रीरामचंद्रजी राज-महलों में रह कर राजसी सुख-विलास करते थे, वही राज-पाट छोड़ कर जंगल को चले। जान पड़ता है, विधाता हम अयोध्यावालों पर बाएँ हैं अथवा विधाता की गति बड़ी कुटिल है।

अलंकार—(१) विषादन, (२) अनुपलब्धि-प्रमाण, और (३) प्रथम निदर्शना।

(१) लक्षण—जहँ चितचाही वस्तु तें पावें वस्तु विरुद्ध।
बुद्धिवंत नरवर तहां कहैं 'विषादन' शुद्ध॥

विवरण—राज्याभिषेक अयोध्यावालों की चितचाही बात थी, वह न हुई, वरन् उसके विरुद्ध रामचंद्रजी को वनवास दिया गया—यह इच्छा से विपरीत हुआ, अतएव इसमें 'विषादन' अलंकार है।

(२) लक्षण—"जानि परै नहिं वस्तु कछु, अनुपलब्धि है सोय।"

विवरण—जहां कोई कारण नहीं मिलता, वहाँ किसी कल्पित कारण को मान लिया जाता है, उसे 'अधुपलब्धि प्रमाण' कहते हैं। जो मुहूर्त्त राज्याभिषेक के लिए निश्चित था, उसी मुहूर्त्त में लोगों ने देखा और सुना कि रामचंद्र तपस्वी होकर जंगल में जा रहे हैं—इस आकस्मिक घटना का जब कोई मुख्य कारण लोगों की समझ में नहीं आया, तब वे विधाता को 'कुटिल' कह कर दोष देने लगे।

(३) लक्षण—जहाँ दो वाक्यों के अर्थ में समताभाव-सूचक ऐसा आरोप किया जाय कि दोनों एक-से जान पड़ें, वहाँ निदर्शना अलंकार होता है। यहाँ 'जो राम राज करते थे, वह जंगल को चले'—यह उदाहरण प्रथम निदर्शना का होता है। इसमें नित्य-संबंधी 'जो-सो'-शब्द प्रायः वाचक-पद होकर आते हैं।

कोउ कह नर-नारायण हरि-हर कोउ ।
कोउ कह विहरत वन मधु मनसिज दोउ ॥२२॥

शब्दार्थ—हरि=विष्णु। हर=महादेव। विहरत=विहार करते हैं। मधु=वसंतऋतु। मनसिज=कामदेव।

अर्थ—वन के मार्ग में जाते हुए श्रीरामचंद्र और लक्ष्मण के मनोहर रूप-रंग को देख कर लोग विस्मय के साथ इनके संबंध में चर्चा करते हैं। कोई कहता है, ये नर और नारायण हैं; कोई कहता है, ये विष्णु और महादेव हैं और कोई कहता है कि काम-देव और वसंत वन में विहार कर रहे हैं।

अलंकार—'प्रथम उल्लेख'।

लक्षण—लखहिं अनेक जु एक को जब ही विविध प्रकार।
ताहि प्रथम उल्लेख कहि सब कवि कुल सरदार॥

विवरण—अनेक व्यक्ति के द्वारा एक व्यक्ति वा वस्तु का अनेक प्रकार से वर्णन किया जाय तो वहाँ 'प्रथम-उल्लेख' अलंकार होता है।

यहाँ राम और लक्ष्मण का भिन्न-भिन्न लोगों ने भिन्न-भिन्न रूप वर्णन किया है, इसलिए प्रथम उल्लेख है।

तुलसी भइ मति बिथकित करि अनुमान।
राम लखन के रूप न देखेउ आन ॥२३॥

शब्दार्थ—मति=बुद्धि। बिथकित=थकी हुई। अनुमान=तर्क। आन (अन्य)=दूसरा।

अर्थ—राम और लक्ष्मण के रूप की समानता का अनुमान करने में लोगों की बुद्धि थक गई, किन्तु उनकी जोड़ के कोई दूसरे प्रमाणित न हुए—नज़र न आए।

अलंकार—'अनन्वयोपमा'।

लक्षण—एक वस्तु उपमेय अस होवे निज उपमान।
मिलत 'सरस' उपमान जहँ तहाँ अनन्वय मान॥

. विवरण—जहाँ किसी वस्तु के समान कोई दूसरी वस्तु नहीं मिलती हो अर्थात् किसी उपमेय के लिए कोई उपयुक्त उपमान न प्राप्त होता हो और एक ही वस्तु उपमेय और उपमान दोनों का

काम करता हो, वहाँ अनन्वयोपमा अलंकार माना जाता है। यथा—'सुंदर नंद किसोर से सुंदर नंद किसोर'। कहीं-कहीं इस भाव के पद भी लिए जाते हैं—'इसकी उपमा नहीं मिलती'। जैसे—'उपमा न कोउ कह दास तुलसी कतहुँ कवि कोविद लहैं'। इसे 'लुप्त अनन्वय' कहते हैं। यहाँ भी 'राम लखन के रूप न देखेउ आन'—पद में यही बात है।

तुलसी जनि पग धरहु गंग महँ साँच।
निगा नाँग करि नितहि नचाइहिं नाच ॥२४॥

शब्दार्थ—निगा नाँग करि=भूखा नंगा कर; यह मुहाविरा है, मतलब यह कि न खाना देगी, न वस्त्र; मैं भूखानंगा बन कर मारा-मारा फिरूंगा। नचाइहिं नाच=(यह भी मुहाविरा है) दुर्गति कर छोड़ेगी।

सूचना—श्री रामचंद्रजी गंगातट पर पहुंचे और पार होने के लिए केवट से नाव माँगी अर्थात् नाव किनारे ले आने को कहा, किंतु केवट नाव नहीं लाया। उस समय नाव थाह जल में थी। रामचंद्र चाहने लगे कि जल में पैठ कर नाव को पकड़ लें और ऐसा सोच कर वे जल में उतरने की चेष्टा करने लगे। यह देख केवट ने सोचा कि यदि भगवान जल में पैठ जायँगे तो उन के चरणों की धूल धुल जायगी और हमें चरणों की धोवन पीने को न मिलेगी। अतएव उसने युक्ति के साथ प्रकट में इस प्रकार कहा—

अर्थ—महाराज ! मैं सत्य कहता हूँ, आप गंगा में हरगिज पाँव न रक्खें। ऐसा करने से मेरी बड़ी हानि होगी। आपके पैर की धूलियों में, न-जाने, क्या करामात है। आपकी चरण-रेणु जिस वस्तु से छू जाती है, वह मानो छू-मंतर हो जाती है—स्त्री बन जाती है। अतएव, उन धूलियों का एक कण भी कहीं मेरी नाव से छू गया, तो यह भी स्त्री बन जायगी—मेरा रोजगार मारा जायगा—मेरे बाल बच्चे भूखों मरने लगेंगे। इसके सिवा मेरी घर वाली जब यह बात जान लेगी कि इसने एक और स्त्री रख ली है तो वह मेरी बड़ी दुर्दशा कर छोड़ेगी। क्या कहूँ, दिन-रात फजीहत कर मुझे नंगा नाच नचाती रहेगी। इसलिए, जरा आप ठहर जायँ, मैं आपके चरणों को धोलूँ, फिर आप शौक से नाव पर चढ़ें।

विशेष—'जनि पग धरहु गंग महँ' में व्यंग्य है कि नाव पर नहीं चढ़ाऊंगा, किंतु केवट का रामचंद्र को नाव पर नहीं चढ़ाने के अभिप्राय में प्रेमानुभूति है, अतः चरणोदक पान करने की केवट की कामना—यह दूसरा व्यंग्य है।

अलंकार—'सूक्ष्म'।

लक्षण—पहले आ चुका है।

विवरण—रामचंद्र गंगा में उतरने की चेष्टा कर रहे हैं—इसे केवट ने देखा। यह बात 'जनिपग धरहु गंग महँ'—पद से साफ जाहिर होती है। अब केवट का रामचंद्र के प्रति साभिप्राय

कथन है कि हे रामचंद्रजी, आप गंगा में पैठ कर नाव तक आने की चेष्टा न करें; क्योंकि ऐसा करने से केवट को भगवान का चरणोदक न मिल सकेगा। इसलिए यहाँ 'सूक्ष्म' अलंकार है।

सजल कठौता कर गहि कहत निषाद।
चढ़हु नाव पग धोइ करहु जनि बाद ॥२६॥

शब्दार्थ:—सजल=जल से भरा हुआ। कर गहि=हाथ में लेकर। बाद=वाक्कलह; बातों का झगड़ा।

अर्थ—कठौता में जल भर कर और उसे हाथों में लेकर निषाद कहता है कि महाराज! चरणों को इसमें धोकर नाव पर चढ़िए—व्यर्थ की बातें कर विलंब न कीजिए।

विशेष—'सजल कठौता कर गहि'—पद से निषाद की प्रेम-विह्वलता का अच्छा पता चलता है। वह चरणोदक के लिए कितना उतावला है! किसी की कुछ न सुन कर अपनी धुन में मस्त है। शायद यह मौका खो न जाय, इसलिए अपना काम बनाने के विचार से जल्दबाजी कर रहा है। चटपट कठौता में जल भर कर ले आता है और भगवान रामचंद्र के आगे हाथों पर उसे उठाये कह रहा है—बस, अब आप अपने चरण इसमें डाल ही दीजिए। भगवान को अब किसी प्रकार इनकार ही नहीं हो सकता, उपाय नहीं है। 'करहु जनि बाद'—में ध्वनि है कि बिना पैर धोये, मैं नाव पर हरगिज नहीं चढ़ाऊँगा। एक साधारण सी बात के लिए आप हठ न करें। इसमें आपकी हानि नहीं,

पर मेरा लाभ है। 'बाद' करने में आपको भी विलंब होता है और मुझे भी दूसरे मुसाफिरों को देखना है। फिर आपके साथ बाद-विवाद करने में मुझे लोग बुरा समझेंगे। कहाँ तो आप महाराज और कहाँ मैं नीच निषाद !

अलंकार—'गूढ़ोत्तर'।

लक्षण—अभिप्राय युत ज्वाब जहँ कहि गूढ़ोत्तर सोय।
प्रश्न मान लीजै कहूँ कहुँ पूछे पर होय॥

विवरण—जहाँ कुछ गूढ़ अभिप्राय-सहित उत्तर का वर्णन हो वहाँ यह अलंकार होता है।

यहां रामचंद्र के द्वारा नाव पर पार उतारने का प्रश्न है, जिस पर केवट ने साभिप्राय उत्तर दिया है। केवट का गूढ़ अभिप्राय चरणोदक पान करने का है, किंतु वह इस भाव को छिपा कर दूसरी तरह से रामचंद्र को पैर धोने के लिए मजबूर कर रहा है। अतएव गूढ़ोत्तर अलंकार मानना चाहिए।

कमल कंटकित सजनी कोमल पाय।
निसि मलीन यह प्रफुलित नित दरसाय॥२६॥

शब्दार्थ—कंटकित=कँटीला। पाय=चरण।

सूचना—गंगा पार कर श्री रामचंद्रजी सीता और लक्ष्मण के साथ जंगल की कंकरीली जमीन पर पैदल जा रहे हैं। गांवों की स्त्रियाँ आपस में इनके संबंध में बातें कर रही हैं। एक ने

कहा—अहा, इनके चरण कमल के समान कोमल हैं। इस पर दूसरी बोली—नहीं,—

अर्थ—कमल में तो कांटा होता है, किंतु इनके चरणों में यह दोष नहीं, कोमल-ही-कोमल हैं। इसके सिवा कमल रात में कुँभिला जाता है, परन्तु इनके चरण रात-दिन खिले हुए-जैसे दीख पड़ते हैं। अतएव, इनके चरणों को कमल कदापि नहीं पा सकता।

विशेष—यहाँ मृणाल-सहित कमल से इनके चरण और उसके ऊपरी भाग की उपमा दी गई है, क्योंकि काँटा कमल के फूल में नहीं, डंठल में होता है।

अलंकार—'दूसरा व्यतिरेक'।

लक्षण—जहाँ उपमान में कोई हीनता दिखाई जाय। यहाँ उपमान कमल में कांटे का दोष-प्रदर्शन किया गया है, अतएव 'द्वितीय व्यतिरेक' है।

द्वै भुज कर हरि रघुवर सुंदर भेस।
एक जीभ कर लक्ष्मण दूसर सेस ॥२७॥

शब्दार्थ—सेस=शेषनाग।

सूचना—जब श्री रामचन्द्रजी बाल्मीकि मुनि के आश्रम पर पहुँचे तब इन्हें देखते ही मुनि ने बड़े आदर भाव से इनका स्वागत किया। पीछे जब रामचन्द्रजी ने पूछा कि मुझे कोई ऐसा स्थान बताइये जहाँ हमलोग कुछ दिन वास करें। इस पर

बाल्मीकि जी कहने लगे— 'भगवन् ! आप जगत्पिता परमात्मा हैं फिर भी आप मुझ से साधारण मनुष्य की तरह यह बात जो पूछते हैं, इसका कारण और कुछ नहीं; आप केवल मनुष्य की मर्यादा की रक्षा करते हैं, अन्यथा आप से कौन-सी बात अज्ञात है ? आपकी लीलाएँ अनन्त हैं।

अर्थ—हे अलौकिक सौंदर्य से युक्त श्री रघुनाथजी, आप दो भुजाओं के साक्षात् विष्णु (चार भुजा वाले) हैं और लक्ष्मण जी एक ही जिह्वा से दूसरे शेष (दो हजार जीभवाले) हैं।

विशेष—गोस्वामी तुलसीदास जी का वर्णन-वैचित्र्य प्रसिद्ध है। इसी प्रसंग का वर्णन आपने 'रामचरितमानस' में बड़ी विलक्षणता से किया है। रामचन्द्र जंगल पहुंच कर कितने ही मुख्य-मुख्य ऋषियों के आश्रम पर गये हैं और सब से भगवान ने यही प्रश्न किया है। पर जो ऋषि जिस प्रवृत्ति के थे, उनके द्वारा उसी के अनुरूप उत्तर दिलाया है। ऋषियों के विभिन्न उत्तर-प्रणाली से ही उनके विभिन्न व्यक्तित्व प्रकट हुए हैं। अस्तु, बाल्मीकिजी ऋषि होने के साथ ही महाकवि भी थे, इसलिये इन के उत्तर में कवित्व साफ फूट निकलता है। वहां आदि कवि ने हृदय को गुदगुदाने वाली कैसी मर्मस्पर्शी उक्तियां कही हैं सुनिये—

पूछेउ मोहि कि रहउँ कहँ, मैं कहतेउँ सकुचाउँ।
जहँ न होहु तहँ देहुँ कहि तुमहिं दिखावउँ ठाउँ॥

सुनहु राम अब कहउँ निकेता।
बसहु जहां सिय लखन समेता॥

जिनके श्रवण समुद्र समाना ।
कथा तुम्हारि सुभग सरि नाना ।।
भरहिं निरंतर होहिं न पूरे ।
तिनके हिये सदन तव रूरे ।।

इस प्रकार वाल्मीकि के मुख से सूक्तियों के फौव्वारे फूट पड़े हैं। अस्तु, इस बरवै में बाल्मीकि के द्वारा गुसाईं जी ने कैसी विलक्षण उक्ति कहलाई है—इसे सहृदय पाठक ही अनुभव कर सकते हैं। मानो पेरिस की छोटी-सी फैन्सी शीशी में सुन्दर भावों का इत्र खींच कर भर दिया है !

अलंकार—'हीन तद्रूप रूपक'।

लक्षण—जहां उपमेय में उपमान की अपेक्षा कुछ गुण कम होने पर भी दोनों की एक-रूपता ठहराई जाय, वहां 'हीन तद्रूप रूपक' अलंकार होता है। यहां दो भुजाओं की कमी रहने पर भी रामचन्द्र में चार भुजा वाले विष्णु और हजारों जीभ की कमी रहते हुए भी लक्ष्मण में दो हजार जीभ वाले शेषनाग का आरोप किया गया है। अतः 'हीन तद्रूप रूपक' है ।

अरण्य कांड

वेद नाम कहि अँगुरिन खंडि अकास।
पठयो सूर्पनखहिं लछिमन के पास ॥२८॥

शब्दार्थ—वेद=श्रुति; संकेतार्थ—कान। अकास=स्वर्ग; संकेतार्थ—नाक।

सूचना—जब श्रीरामचंद्र पंचवटी में वास करने लगे तब एक दिन रावण की बहन सूर्पनखा वहाँ आई। वह श्रीराम और लक्ष्मण की मोहिनी मूर्त्तियों को देख कर मोहित हो गई। उसने राम से कहा कि मेरे साथ व्याह कीजिए, रामजी ने उसे लक्ष्मण के पास भेज दिया और लक्ष्मण को इस प्रकार इशारा किया—

अर्थ—अंगुलियों को उठा कर 'वेद' संज्ञा जनाई और आकाश को खंडित किया, इस प्रकार नाक-कान काट लेने का संकेत करके सूर्पनखा को लक्ष्मण के पास भेज दिया।

विशेष—'अँगुरिन' पद बहुवचन है। अस्तु, चार अँगुलियों को दिखा कर 'वेद' संज्ञा का बोध कराया। 'वेद' नाम श्रुति का है और श्रुति कान को भी कहते हैं, अतएव चार अंगुलियों से कान का संकेत

किया, फिर आकाश को दिखा कर उसे खंडित कर जताया कि आकाश अर्थात् स्वर्ग अर्थात् नाक काट लो। मतलब यह कि नाक-कान काटने का संकेत किया।

अलंकार—इसमें 'युक्ति' अलंकार है।

लक्षण—मर्म छिपावन हेतु या मर्म जनावन हेतु।
करै क्रिया कछु युक्ति तेहि भाषत सुकवि सचेतु॥

विवरण—जहाँ कोई बात किसी विशेष अंग-क्रिया के द्वारा चतुरता से प्रकट की या छिपाई जाय, वहाँ युक्ति अलंकार होता है। यहाँ चार अंगुलियाँ उठा कर कान का और आकाश दिखा कर नाक का संकेत कर काटने के इशारे से नाक-कान काटने की बात प्रकट की गई। अतः युक्ति अलंकार है।

हेम लता सिय मूरति मृदु मुसुकाइ।
हेम हरिण कहँ दीन्हेउ प्रभुहिं दिखाइ॥२९॥

शब्दार्थ—हेम लता=सोने की लता।

अर्थ—सोने की लता के समान शरीर वाली श्री जानकीजी ने मधुरता के साथ मुसकिरा कर श्रीरामचंद्रजी को सोने का हिरण दिखा दिया।

विशेष—सोने का मृग देख कर सीताजी के हृदय में उसके पाने की लालसा हुई, किंतु वे रामचंद्रजी से प्रकट नहीं कहतीं कि मृग ला दीजिए, वरन् केवल प्रसन्नता-सूचक मृदु मुसकान के

साथ उन्हों ने मृग की ओर इशारा किया। सीताजी के इस संकेत और चेष्टा में उसके पाने की कामना व्यंग्य से प्रकट होती है।

अलंकार—'सम-अभेद रूपक'।

लक्षण—जहाँ उपमेय और उपमान की पूर्ण रूप से एक रूपता वर्णित की जाय वहाँ 'सम अभेद रूपक' अलंकार होता है। यहाँ 'हेम लता' उपमान की 'सिय मूरति' उपमेय में एक रूपता पूर्ण रूप से आरोपित की गई है, अतः 'सम अभेद रूपक' है।

जटा मुकुट कर सर धनु संग मरीच।
चितवनि बसत कनखियन अँखियन बीच ॥३०॥

शब्दार्थ—चितवनि=दृष्टि। कनखियन=तिरछे देखना, संकेत।

अर्थ—जटा का मुकुट बनाये, हाथों में धनुष-बाण धारण किये श्रीरामचंद्र जी कपट मृग रूपी मारीच के पीछे-पीछे जा रहे हैं और उसे तिरछी दृष्टि से देखते जाते हैं। तुलसीदासजी कहते हैं कि श्री रामचंद्र जी की यह तिरछी चितवन मेरी आँखों में बस रही है।

विशेष—'कनखियन चितवनि'—से अभिप्राय है कि रामचंद्र जी मृग को कनखी से—आँखों के कोने से देख रहे हैं। उनके खयाल में मृग का मारना महज मामूली काम है—प्रयास का प्रयोजन नहीं, अतएव उसे सीधे देखते तक नहीं—कनखियों से देखते जाते हैं। श्री रामचंद्र जी की उस समय की वह अनोखी चितवन वास्तव में बड़ी चोखी और सुंदर जान पड़ती है। इस-

लिए गोस्वामी तुलसीदासजी अपने इष्टदेव की उसी सहज चितवन पर लट्टू हैं।

अलंकार—यहां स्वभावोक्ति है। लक्षण पूर्वोक्त।

कनक-सलाक कला-ससि दीप-सिखाउ।
तारा सिय कहँ लछिमन मोहि बताउ ॥३१॥

शब्दार्थ—कनक-सलाक (कनक शलाका)=सोने की सलाई। कलाससि (शशि-कला)=चंद्रमा का अंश। (नोट—चंद्रमा की सोलह कलाएँ होती हैं। शुक्लपक्ष में प्रतिपद से प्रारंभ कर एक-एक अंश करके चंद्रमा में वृद्धि होती है और पूर्णिमा को पूर्णता को प्राप्त हो जाती। इनके नाम ये हैं—१ अमृता, २ मानदा, ३ पूषा, ४ पुष्टि, ५ तुष्टि, ६ रति, ७ द्युति, ८ शशिनी, ९ चंद्रिका, १० कांति, ११ ज्योत्स्ना, १२ श्री, १३ प्रीति, १४ अंगदा, १५ पूषणा, और १६ पूर्णा)। दीप-सिखाउ (दीप-शिखा)=दिये की जलती हुई बत्ती।

सूचना—जब माया मृग को मार कर श्रीरामचंद्रजी आश्रम को लौटे तब वहाँ सीताजी को न देख लक्ष्मण से पूछते हैं, क्यों कि सीताजी की रखवाली का भार रामजी लक्ष्मण को ही दे गए थे। वे कहते हैं—

अर्थ—सोने की शलाका-स्वरूप, चंद्रकला-स्वरूप, दीपशिखा-स्वरूप और तारा-स्वरूप सीता कहाँ है? हे लक्ष्मण! मुझे बताओ।

विशेष—'कनक-शलाका' पद में व्यंग्य है—सर्वांग सुंदर गौर वर्ण वाली, छरहरे शरीर की और सांचे में ढली हुई-जैसी सुडौल अंगों वाली। शशिकला अर्थात् द्वितीया के चाँद-सी जगद्वंदनीया अथवा चन्द्रमा की अमृतानाम्नी कला के समान पवित्र यश का प्रकाश करने वाली। दीप-शिखा अर्थात् दोनों कुल को प्रकाशित करने वाली। तारा अर्थात् जिस प्रकार रोहिणी चन्द्रमा को प्रिय है, सीता मुझे उसी प्रकार प्यारी है।

अलंकार—'मालाकार रूपक'।

लक्षण—जहाँ कई रूपकों की एक माला-सी हो वहाँ 'मालाकार रूपक' होता है। यहाँ कनकसलाक,ससिकला, दीपसिखाउ और तारा—इन उपमानों की एक रूपता एक-ही उपमेय सीता में निरूपित की गई है। इसलिए 'मालाकार रूपक' अलंकार है।

सीय वरण सम केतकि अति हिय हारि।
किहेसि भँवर कर हरवा हृदय विदारि ॥३२॥

शब्दार्थ—वरण=वर्ण; अंग-रंग। केतकि=पुष्प विशेष; स्वर्ण-यूथिका (सोन जुही)। किहेसि=किया। हरवा=हार। विदारि=विदीर्ण हो गया; फट गया।

अर्थ—केतकी ने बड़े गर्व से अपने वर्ण की सीताजी की गोराई के साथ तुलना की, पर प्रतियोगिता में वह हार गई। (इस हार से उसे इतना दुःख हुआ कि) उसका हृदय विदीर्ण हो

गया, परंतु अपने भाव को छिपाने के लिए उसने भौरों का मानो हार पहन लिया।

विशेष—'हारि'-पद से स्पष्ट है कि केतकी ने सीता के रूप के साथ प्रतियोगिता की थी। शायद उसने सुना हो कि सीताजी के रूप-रंग के मुकाबिले कमल, चम्पा आदि फूल मुँह की खा चुके हैं इसलिए उसने गर्व से ऐंठ कर मन में सोचा—अच्छा मैं देखती हूँ, सीताजी का अंग-वर्ण मेरे रंग से कैसे आगे बढ़ता है! किंतु सामने आते ही उसका चेहरा उतर गया—रंग फीका पड़ गया। अतएव मन-ही-मन अपनी हार समझ कर वह इतनी व्यथित हुई कि उसका हृदय फट गया (सूचना—यहां केतकी की कलियों का खिलना ही हृदय फटना है)। अब उसे इस बात (हार) से और भी लज्जा हुई कि लोग इस रहस्य को कहीं जान लेंगे तो हमें हमेशा के लिए कोसते रहेंगे। इसलिए अपने भाव को छिपाने के लिए झटपट भौरों का हार पहन लिया—फटे हुए हृदय को इस हार से छिपा लिया। यहाँ केतकी के खिलने पर पुष्प-रस के लोभ से जो भौरों का झुंड उस पर आकर बैठ गया वही केतकी का हार पहनना वर्णित किया गया है।

अलंकार—'पंचम प्रतीप'।

लक्षण—पूर्वोक्त।

विवरण—सीताजी के शरीर का रंग उपमेय और केतकी उपमान है। उपमेय के मुकाबिले में उपमान का व्यर्थ होना कहा गया; इसलिए 'पंचम प्रतीप' है।

सीतलता ससि की रहि सब जग छाइ।
अगिनि ताप ह्वै हम कहँ संचरति आइ ॥३३॥

अर्थ—सारे संसार में तो चन्द्रमा की शीतलता छाई हुई है, पर मेरे पास वही शीतलता अग्नि-ज्वाला होकर आती है।

विशेष—रामचन्द्र की वियोग, दशा का वर्णन है। वियोग की एकादश दशाएं कही गई हैं। यथा—अभिलाषा, चिंता, स्मरण, गुण-कथन, उद्वेग, प्रलाप, उन्माद, व्याधि, जड़ता, मूर्छा और मरण। उक्त बरवै में उद्वेग की दशा है। लक्षण:—

सुख दायक ह्वै जात जहँ दुख दायक अनयास।
सो उद्वेग दसा दुसह बरनैं केसव दास॥

अलंकार—'पंचम विभावना'।

लक्षण—बरनत हेतु विरुद्ध तैं होत काज निरधार।
सिय-हिय सीतल जो लगे जरत लंककी झार॥

विवरण—जहां विपरीत कारण से कार्य की उत्पत्ति हो वहां पंचम विभावना होती है। यहां चन्द्रमा के कारण अग्नि-ताप का संचार होना—विरुद्ध कारण से कार्य की उत्पत्ति कही गई है, अतः पंचम विभावना है।

किष्किंधा कांड

श्याम गौर दोउ मूरति लछिमन राम।
इनतें भइ सित कीरति अति अभिराम ॥३४॥

शब्दार्थ—सित=उज्ज्वल। कीरति (कीर्ति)=यश। अभिराम=सुन्दर; रमणीय।

सूचना—ऋष्यमूक पर्वत पर अपने भाई बालि के डर से भाग कर सुग्रीव छिपा हुआ है। सामने राम और लक्ष्मण को आते हुए देख कर उसने हनुमान को उनका भेद लेने के लिये भेजा। कहा—'पठवा बालि होहि मन मैला। भागौं तुरत तजौं यह सैला।' इस पर हनुमानजी ने जाकर दोनों भाइयों का परिचय लिया और उन्हें सुग्रीव से मिलाने के लिये वह ले आये। उस समय हनुमानजी श्रीराम और लक्ष्मण का परिचय सुग्रीव को इस प्रकार दे रहे हैं:—

अर्थ—श्याम शरीरवाले रामचन्द्रजी और गौर शरीरवाले लक्ष्मणजी हैं। इनके द्वारा उज्ज्वल कीर्त्ति के बड़े-बड़े काम हुए हैं अथवा इनके सत्कार्यों से कीर्त्ति भी अधिकतर उज्ज्वल और रमणीय बन गई है।

विशेष—'श्याम-गौर' विशेषण-पद के अनुसार विशेष्य पद 'लछिमन-राम' का क्रम नहीं है। यदि 'गौर श्याम' होता तो बिना छंदोभंग हुए क्रमालंकार हो जाता पर रामचंद्रजी बड़े थे अतः उनका ही नाम पहले आना समुचित था। गुसाईंजी ने अलंकार का लोभ न कर वर्णन-शैली की इसी मर्यादा को निबाहा है। अतएव 'लछिमन-राम' का क्रम अन्वय से श्याम-गौर के अनुसार अर्थ में कर लेना चाहिए। ऐसा करने में ही अर्थ-सौंदर्य रहता है—अलंकार में वह नहीं होता।

प्रथम चरण में राम और लक्ष्मण का बाहरी परिचय दे दिया गया है। फिर दूसरे चरण में उनके आचार, गुण और स्वभाव का भी बड़े कौशल से परिचय दिया गया है। 'इनतें भइ सित कीरति अति अभिराम'—इतने में ही उनके संबंध की कोई बात छोड़ नहीं रक्खी। कहा—इन्होंने ऐसे-ऐसे काम किये हैं जिन के कारण इनकी कीर्त्ति का प्रकाश दिग्दिगंत में फैला हुआ है और जिनके सुनने से मन में लोकोत्तर आनंद की लहरें उठने लगती हैं। इन्होंने विश्वामित्र के यज्ञ की रक्षा की, अहिल्या का उद्धार किया, जनकपुर में धनुष तोड़ा, परशुराम का गर्व दूर किया, सीता से ब्याह किया, फिर पिता-माता की आज्ञा मान अयोध्या के जैसा विशाल साम्राज्य को तिलांजलि देकर जंगल को चले आए। इन बातों से राम के संबंध में भिन्न-भिन्न भाँति के पराक्रमों की अभि-व्यक्ति होती है। दुष्टों से साधुओं की रक्षा करना अथवा संसार

से अनाचार और अत्याचार का मूलोच्छेद इनके जीवन का व्रत है। अहिल्या के उद्धार से जाना गया कि ये अवतारी पुरुष हैं। धनुष-भंग की घटना से इनके अपार बल-विक्रम का पता चला। परशुराम के गर्व दूर करने में इनका पुरुषार्थ प्रकट हुआ। सीता से ब्याह करने में इनकी परम भाग्यता जानी गई। माता-पिता की आज्ञा से जंगल आने में इनका शिष्ट आचरण, इनका शील, इनकी त्याग-वृत्ति और इनकी उच्चाशयता का पता चला। इस प्रकार हनुमानजी ने सुग्रीव से संकेत में कह दिया कि ये दोनों भाई अलौकिक महिमा के पुरुष हैं; आप इनसे मैत्री करें, आपका काम बन जायगा।

अलंकार—'द्वितीय विषम' और 'द्वितीय सम'।

(१) लक्षण—कारन औरे रूप को कारज औरे रूप।
विषम अलंकृत दूसरी बरनत है कवि भूप॥

विवरण—यहाँ कार्य रूप कीर्त्ति उज्जवल वर्ण है और कारण रूप राम श्याम वर्ण हैं अतएव 'विषमालंकार' है।

(२) लक्षण—कारन के सम बरनिये कारज को जेहि ठौर।
देखि सरस गुनरूप तहँ बरनत हैं सम और॥

यहाँ गौरवर्ण लक्ष्मण (कारण) के द्वारा उज्ज्वल कीर्त्ति (कार्य) हुई है। अतएव समालंकार है।

सूचना—जहाँ एक से अधिक अलंकार आते हैं, ऐसे मिश्रण को उभयालंकार कहते हैं। इसके दो भेद हैं—

(१) संसृष्टि और (२) संकर । 'तिल-तंडुल-न्याय' से जहाँ मिश्रित अलंकार को अलग-अलग कर लिया जाय, वहाँ वह संसृष्टि कहा जाता है। यहाँ सम और विषम अलंकार उसी प्रकार मिले हैं, अतः संसृष्टि है।

कुजन पाल, गुन बरजित, अकुल, अनाथ ।
कहहुँ कृपानिधि, राउर कस गुनगाथ ॥३८॥

शब्दार्थ—कुजन=बुरे लोग, दलित जाति (कु=पृथ्वी, जन=जीव,=पृथ्वी पर रहने वाले सभी जीव)। पाल=रक्षा करने वाले। गुण=सद्गुण (सत्व, रज, तम)। बरजित=रहित। अकुल=हीन कुल का (बिना कुल का)। अनाथ=असहाय (जिसके ऊपर कोई नाथ न हो)। कस=किस प्रकार। राउर=आपका। गुणगाथ=गुणावली।

सूचना—बालि को मार कर जब श्री रामचंद्रजी ने सुग्रीव को किष्किंधा का राजा बना दिया, तब वह बहुत दिनों तक रामचंद्रजी के पास लौट कर नहीं आया—राजकाज ही में मस्त रहा। तब रामजी ने लक्ष्मण को भेज कर उसे बुलवाया। उस समय सुग्रीव अपनी कृतघ्नता पर बड़ा लज्जित, दुखी और भयभीत हुआ। अतएव रामचंद्रजी से अपने अपराधों को क्षमा कराने के खयाल से सुग्रीव कहता है—

अर्थ—यह बरवै श्लेष से पुष्ट है, अतएव इसके दो अर्थ हैं।

(१) हे कृपानिधि ! आप मेरे जैसे नीच जन—दलिज जाति

(वानरों) की रक्षा करने वाले हैं और मैं गुणहीन, कुलहीन और असहाय हूँ। ऐसी दशा में मैं आपकी अपार गुणावली का किस प्रकार वर्णन करूँ?

(२) हे राम! आप पृथ्वी पर के सब जीवों के पालनकर्त्ता हैं, आप निर्गुण हैं—सत्व, रज, तम, इन तीनों गुणों से परे हैं, आपका कोई कुल नहीं, आपका कोई नाथ नहीं, आपही सब के नाथ हैं; हे कृपानिधि! आप ही कहें, आपकी गुणावली कैसे गाई जाय।

विशेष—रामचंद्रजी के लिए 'कुजनपाल' और 'कृपानिधि' ये दो विशेषण साभिप्राय हैं। 'कृपानिधि' होने के कारण आप मेरे दोषों को क्षमा करें—व्यंग्य से यही भिक्षा है। 'कुंजनपाल' में ध्वनि है कि "मैं कुछ विलासी बन कर वहाँ नहीं रह गया था, वरन् वानर-समाज की शासन-व्यवस्था मुझे नये सिरे से ठीक करनी पड़ी, जिसमें मुझे इतने दिन लग गए और मैं आपके पास न आ सका; क्योंकि आप ही बानरों की रक्षा करने वाले हैं और मैं आपकी आज्ञा का पालन कर रहा था—आप ही का काम कर रहा था, इस लिए मैं क्षम्य हूँ।" इसके बाद सुग्रीव अपने संबंध में कहता है—"मुझ से भूल होना तो स्वाभाविक बात है, क्योंकि मैं गुणहीन हूँ; अतएव आपके गुणों को (आप के द्वारा किये गए उपकारों को) भूल जाऊँ—इसमें आश्चर्य क्या? फिर मैं अकुल हूँ अर्थात् नीच कुल का होने के कारण मुझ में कार्य-अकार्य का विचार कहाँ से हुआ? और सबसे बढ़कर मैं अनाथ

हूँ अर्थात् आपको छोड़ कर मेरा और सहारा नहीं है, अतएव आर्त्त होने के कारण यदि कुछ चूक हुई हो तो असंभव नहीं, क्योंकि 'आरत के चित रहहिं न चेतू'।

अलंकार—(१) 'परिकर', (२) 'श्लेष से पुष्ट व्याजस्तुति'।

(१) लक्षण—अभिप्राय जहँ क्रिया को सुविशेषण में होय।
अलंकार 'परिकर' तहाँ बरनत हैं कवि लोय॥

विवरण—जहाँ साभिप्राय विशेषणों से विशेष्य का कथन हो वहाँ 'परिकर' अलंकार होता है।

यहाँ रामचंद्र के लिए 'कुजनपाल' और 'कृपानिधि' साभिप्राय विशेषणों का प्रयोग किया गया है। अभिप्राय की विशेषता ऊपर वर्णित की जा चुकी है। इसी प्रकार सुग्रीव ने अपने लिए 'गुनवरजित, अकुल और अनाथ'—साभिप्राय विशेषणों कर प्रयोग किया है।

(२) लक्षण—देखत तो निंदा लगे समुझे अस्तुति होय।
व्याजस्तुति भूषण सबै ताहि कहै सब लोय॥

विवरण—जहां वाच्यार्थ में किसी की निंदा हो, पर व्यंजना से उसकी स्तुति समझी जाय, वहाँ 'व्याजस्तुति' होती है। यहाँ 'कुजनपाल, गुनबरजित, अकुल; और अनाथ' का अभिधेयार्थ तो रामचंद्र की निंदा का सूचक है, पर श्लेष से दूसरा अर्थ करके स्तुति की गई है, अतः 'श्लेष से पुष्ट व्याजस्तुति' है।

नोट—शुद्ध 'व्याजस्तुति' का उदाहरण—

री जमुना अविवेकिनी कौन लई यह ढंग।
पापिन सों निज बंधु को मान करावति भंग॥

सुंदर कांड

विरह-आगि उर ऊपर जब अधिकाइ ।
ये अँखियाँ दोउ बैरिनि देहिँ बुझाइ ॥३६॥

सूचना—अशोक-वाटिका में बैठी हुई, श्री रामचंद्र के विरह में शोक-संतप्ता सीता अनुताप कर रही है—

अर्थ—विरह की आग जब हृदय में प्रज्ज्वलित होकर ऊपर की ओर बढ़ना ही चाहती है—शरीर को भस्मीभूत करना चाहती है, तब तक ये बैरिनी आँखें आँसू बहा कर उसे बुझा देती हैं ।

विशेष—प्राणों को रामचंद्र का वियोग असह्य हो रहा है । वे जल्द-से-जल्द शरीर छोड़ना चाहते हैं, परंतु आँखें राम-दर्शन के लिए लालायित हो रही हैं, इसलिए जब वे देखती हैं कि वियोग की आँच से शरीर भस्म हो जायगा, तब मेरा स्वार्थ सिद्ध न होगा अतएव आँसुओं की वर्षा कर उसे बुझा देती हैं ।

अलंकार—'काव्यलिंग' ।

विवरण—जहां ज्ञापक कारण के द्वारा अर्थ-पुष्टि होती है, वहां 'काव्यलिंग' अलंकार कहा जाता है ।

कारण दो प्रकार के होते हैं—(१) उत्पादक और (२) ज्ञापक। उत्पादक कारण वह है, जिससे कार्य उत्पन्न हो। जैसे अग्नि धूम का उत्पादक कारण है। और ज्ञापक कारण वह है जो किसी कार्य की सूचना दे। जैसे धूम अग्नि का ज्ञापक कारण है क्योंकि धूम से अग्नि के होने की सूचना मिलती है। 'काव्यलिंग' अलंकार में ज्ञापक कारण से ही काम लिया जाता है।

यहां सीता के वियोग की आग आँसुओं से कुछ ठंढी पड़ जाती है। आँसू निकलने से हृद्गत शोकोच्छ्वास स्वभावतः कम हो जाता है और हृदय में थोड़ी-सी सेहत आ जाती है। इस कथन के समर्थन में ज्ञापक हेतु देकर कवि कहता है कि नेत्र दर्शन-लालसा का स्वार्थ सिद्ध करने के लिए शरीर को जलने देना नहीं चाहते और बारंबार आँसू बहाकर वियोग की उठती हुई ज्वाला को बुझा डालते हैं। 'अँखियाँ दोउ बैरिनि देहिं बुझाइ'—में दर्शन-लालसा व्यंग्य है।

डहकु न है उजयरिया निसि नहिं घाम।
जगत जरत अस लाग मोहि बिनु राम ॥३७॥

शब्दार्थ—डहकु=बहकाना; धोखा देना। उजयरिया=चांदनी। घाम=सूर्य का ताप; धूप।

अर्थ—पृथ्वी पर फैली हुई यह चाँदनी मुझे सूर्य के ताप से भी तीखी लग रही है, परंतु रात में सूर्य का ताप नहीं होता। तब बात यह है कि मुझे रामचंद्र के वियोग के कारण सारा संसार ही

जलता हुआ जान पड़ता है। इसलिए चंद्रमा सूर्य के समान तप्त और चाँदनी धूप-सी असह्य जान पड़ती है।

विशेष—इसमें भी वियोग की उद्वेग दशा का वर्णन है। सीताजी अशोक-वाटिका में बैठी हुई हैं। वियोगावस्था में सभी उद्दीपन विभाव दुःखदाई जान पड़ते हैं, अतएव सीताजी कहती हैं—ऐ चाँदनी, तू मुझे मत बहका। यद्यपि तू मुझे धूप-सी हो कर लग रही है, पर रात में धूप का होना असंभव है। कारण मैं समझ रही हूँ। केवल प्रियतम राम के वियोग के कारण ही मुझे तेरी शीतलता ताप की तरह अनुभूत होती है।

अलंकार—'अनुमान-प्रमाण'।

लक्षण—चिह्नहिं लखि अनुमान बल वस्तुहिं लीजै जान।
तहँ अनुमान प्रमाण सब भूषण कहै बखान॥

यहाँ 'चाँदनी ही है, घाम नहीं'—यह बात रात्रि-काल के अनुमान से प्रमाणित की गई है, अतएव 'अनुमान प्रणाम' अलंकार सिद्ध है।

अब जीवन कै है कपि आस न कोय।
कनगुरिया कै मुँदरी कंकन होय॥३८॥

शब्दार्थ—कनगुरिया=कनिष्टका अंगुली। मुँदरी=अंगूठी।

सूचना—सीताजी हनुमानजी से अपनी विरह-दशा का वर्णन करती हैं—

अर्थ—हे कपि! अब मेरे जीने की कोई आशा नहीं रह

गई। देखो न, शरीर की खिन्नता के कारण छिगुनी का छल्ला कंकण पहनने की जगह—पहुंचे (कलाई) पर चढ़ आता है!

अलंकार—'अल्प'।

लक्षण—अति छोटो आधेय ते अति छोटो आधार।
ताहि अल्प भूषण कहैं जे सुबुद्धि आगार॥

विवरण—अत्यंत सूक्ष्म आधेय की अपेक्षा आधार का अति-सूक्ष्म वर्णन करना 'अल्पालंकार' का उद्देश्य है। यहाँ 'मुँदरी' आधेय और 'हाथ' आधार है। अस्तु, आधेय की अपेक्षा आधार अत्यंत छोटा कहा गया है।

नोट—इसी भाव की एक कवि की उक्ति और भी सुंदर है—
छनहु स्याम ब्रज में जगी दसम दसा की जोति
जहँ मुँदरी अँगुरीन की कर में ढीली होति॥

इसमें 'ढीली होति' कह कर आधार की और भी सूक्ष्मता प्रकाशित की गई है और बरवै के भाव पर कुछ ज्यादा कलई चढ़ा कर दोहे में चमकाया गया है। परंतु बरवै में दोहे की अपेक्षा स्वाभाविकता का अधिक निर्वाह किया गया है।

राम सुयश कर चहुँ युग होत प्रचार।
असुरन कहँ लखि लागत जग अँधियार॥३९॥

अर्थ—श्री रामचंद्र के सुयश का प्रचार चारों युगों में है; फिर भी राक्षसों का अस्तित्व देखते हुए दुनिया अँधियाली जान पड़ती है।

विशेष—'सु-यश' से भाव है, नीति और धर्म के साथ बल-वीर्य द्वारा अनाचार और अत्याचार का दमन करने पर मिली हुई बड़ाई—

होत जु अस्तुति दान तें कीरति कहिये सोय ।
होत बाहुबल तें सुजस धर्म नीति सह होय ॥

अतएव, सीताजी राक्षसों के अत्याचार से घबड़ा कर रामजी के सु-यश का स्मरण करती हैं। राम के सु-यश अर्थात् संसार में जुल्म की धाँधली मचानेवाले खर, दूषण, त्रिशिरा, सुबाहु, ताड़का और मारीच आदि राक्षसों का रामचंद्र जी ने अपने बाहु-बल से संहार कर उनके द्वारा पहुँचाई जाने वाली उत्पीड़ाओं से सज्जनों को अभय कर दिया। इस प्रकार राम के सु-यश के प्रकाश में जहाँ संसार के लोग बे-खौफ भ्रमण करते थे, प्रकाश में चलने के कारण किसी को कहीं ठोकर खाने का डर नहीं था; वहाँ जालिमों ने उनके ही घर में डाका दिया, इससे क्या यह नहीं कहा जा सकता कि संसार अभी अंधकारमय है—अभी तक दुनिया खतरे से खाली नहीं हो पाई है और रामचंद्र का वह 'सु-यश' मानो राक्षसों के अत्याचार रूपी अमा-रजनी में छिप गया है ?

'राम-सुयश को चहुँ युग होत प्रचार' कहने के बाद 'लागत जग अँधियार' कह कर सीता जी ने व्यंग्य से रामचंद्र को उत्तेजित करने की चेष्टा की है और यही यहाँ सबसे बड़ा अर्थ-सौंदर्य है।

अलंकार—'तीसरी विभावना'।

लक्षण—प्रतिबंधक के होत हू कारज पूरन मान।
निसि दिन स्रुति संगति तऊ नैन राग की खान॥

विवरण—'राम-सुयश'—रूप प्रतिबंध के होते हुए भी असुर-कृत उत्पात रूपी अंधकार बना रहता है। अतएव 'तीसरी विभावना' अलंकार है।

सिय वियोग दुख केहि विधि कहौं बखानि।
फूलबाण ते मनसिज बेधत आनि ॥४०॥

शब्दार्थ—मनसिज=मनमें उत्पन्न होने वाला—काम।

अर्थ—लंका से लौट आने पर हनुमानजी श्रीरामचंद्रजी से सीता का समाचार कहते हैं:—सीताजी को आपके वियोग का जैसा दुःख है उसका वर्णन मैं किस प्रकार कर सकूँगा! (बस, संक्षेप और सारांश यही है कि) उन्हें कामदेव फूल के बाणों से सदैव बेधा करता है।

विशेष—कहा जाता है कि कामदेव फूल के बाणों से ही मनुष्य के मन को बेधा करता है, किंतु न तो काम कोई शरीरी जीव है और न फूल के ही बाण किसी के शरीर में अब तक चुभे हैं। 'फूलबाण' स्वयं एक अलंकृत पद है। तात्पर्य है कि काम अर्थात् शृंगार-रस का स्थाई भाव 'रति' मन का ही विषय है। इसीलिए इसे मनसिज या मनोज कहते हैं। विभाव, अनुभाव, और संचारी भावों से पुष्ट होकर, शृंगार-रस में 'रति' स्थाई भाव

का उदय होता है। शृंगार के दो भेद हैं—(१) संयोग और (२) वियोग। यहाँ वियोग शृंगार का वर्णन है। रामचंद्र आलंवन विभाव, हनुमान का अशोक-वाटिका में सीताजी से मिलना उद्दीपन विभाव, सीताजी का वियोग की भिन्न-भिन्न दशाओं में प्राप्त होना अनुभाव; और दीनता, स्मृति, चिंता, आदि संचारी भाव हैं। इस प्रकार वियोग के कारण जितने मनोविकारों का उद्रेक होता रहता है, जिनके कारण मन में बेचैनी-सी होती रहती है—वे ही 'फूलवाण' हैं अर्थात् संयोग की अवस्था में किंवा वियोग की दशा में प्रियतम से मिलने की जो उत्कट उत्सुकता लगी रहती है उसके लिए 'फूलवाण' बड़ा अच्छा उपमान है। अस्तु।

हनुमानजी कहते हैं कि कामदेव के जिस फूलवाण को शिव जी जैसे समर्थ देवता नहीं सह सके थे, घाव लगते ही व्याकुल हो गये थे, वैसे ही वाणों से सीताजी रात-दिन बेधी जा रही हैं। बस, इसी से सीताजी की उद्विग्न दशा का अंदाजा लगा लीजिए।

अलंकार—'ललित'।

लक्षण—ललित अलंकृत जानिये कह्यौ चाहिए जौन।
ताही के प्रतिबिंब ही बरनन कीजै तौन॥

विवरण—जो बात कहने को हो, उसको न कह कर उसका प्रतिबिंब कहा जाय तो उसे 'ललित' अलंकार कहते हैं।

यहाँ कहना था कि सीताजी आप से मिलने के लिए रात-दिन व्याकुल रहती हैं, ऐसा न कह कर कहा कि 'फूलवाण ते मनसिज बेधत आनि'। अतएव 'ललित' अलंकार है।

सरद चाँदनी सँचरत चहुँदिसि आनि ।
विधुहिं जोरि कर बिनवत कुलगुरु जानि ॥४१॥

अर्थ—जिस समय शरद ऋतु की चाँदनी सीताजी के चारों ओर आकर फैल जाती है, उस समय वह चंद्रमा को कुलगुरु (सूर्य) समझ कर, हाथ जोड़ कर विनय करने लगती हैं।

विशेष—चंद्रमा को सूर्य समझने में व्यंग्य यह है कि वियोग की उद्वेग-दशा-व्याप्ति के कारण सीताजी को चंद्रमा सूर्य की तरह उत्तापक मालूम पड़ता है। इसी कारण चंद्रमा को सूर्य समझ कर विनय करती हैं। रघुकुल सूर्यवंशी है, अतएव सूर्य ही उस कुल के आदि पुरुष माने जाते हैं।

अलंकार—'भ्रम' या 'भ्रांति'।

लक्षण—भ्रांति और की और में निश्चित जब अनुमान।
भ्रांति भ्रमालंकार वा कहैं ताहि मतिमान ॥

विवरण—भ्रम से किसी और वस्तु को कोई और वस्तु मान बैठना भ्रांति वा भ्रम अलंकार कहलाता है।

यहाँ शरद ऋतु के चंद्रमा में सीताजी को सूर्य का भ्रम होता है। चाँदनी कड़ी धूप-सी जान पड़ती है। इसलिए भ्रमालंकार है।

लंका कांड

विविध बाहिनी बिलसति सहित अनंत ।
जलधि सरिस को कहै राम भगवंत ॥४२

शव्दार्थ—विविध=अनेक । बाहिनी=सेना । बिलसति=शोभते हैं। अनंत=शेषनाग; लक्ष्मणजी। जलधि=समुद्र। सरिस (सदृश)=समान । को=कौन ।

सूचना—जिस समय वानरों की बड़ी सेना लेकर रामचंद्र ने लंका पर चढ़ाई की, उस समय भगवान् रामचंद्र की विभूति और विक्रम का वर्णन गुसाईंजी इस प्रकार करते हैं—

अर्थ—लक्ष्मण के नायकत्व में शोभती हुई अपार सेना को देखते हुए भगवान् रामचंद्र की तुलना भला समुद्र से कौन करेगा अर्थात् रामचंद्र की सेना समुद्र से बढ़ कर—अपार थी ।

विशेष—जिन रामचंद्र के अनुचर 'अनंत' (लक्ष्मण) हैं उनकी बराबरी भला सांत जलधि कैसे कर सकता है ? फिर जिन रामचंद्र के सेना-नायक ऐसे हैं जिन्होंने अपने मस्तक पर समस्त समुद्रों के साथ पृथ्वी का भार ले रक्खा है, उनके साथ केवल बेचारे

'जलधि' का मुकाबिला कैसा ? एक और भी भाव यह है कि लक्ष्मण-सहित रामचंद्र के नेतृत्व में जो बानरों की असंख्य सेना लंका पर आक्रमण के लिए उमड़ चली तो उस समय उसकी तुलना उमड़ते हुए समुद्र से—प्रलयकाल के विकराल समुद्र से भी नहीं की जा सकती, क्योंकि प्रलयकाल का समुद्र लोक-अमंगल-कारी है पर यह सेना लोक-कल्याण की भावना से कूच कर रही है। यदि कहा जाय कि लंका के लिए तो सेना का उमड़ना अमंगलजनक ही है, तो उत्तर है कि लंका में केवल दुष्टों का ही नाश हुआ है—साधुओं का नहीं। अस्तु, यह लोक-अमंगलकारी नहीं कहा जा सकता। यहाँ 'अनंत' और 'जलधि सरिस को कहै'—पदों में व्यंग्य है।

इसके अतिरिक्त यदि कहा जाय कि लक्ष्मण-समेत श्री रामचन्द्रजी अपार सेना के साथ इस प्रकार शोभते हैं जैसे क्षीर-सागर में शेष-सहित नारायण, तो यह उपमा भी असंगत जान पड़ती है। यहाँ भी यही आपत्ति स्वतः उपस्थित होती है कि क्षीर-सागर के नारायण लोक-कल्याण-कामना से नहीं, वरन् 'स्वांतः सुखाय' शोभायमान हैं, किंतु यहाँ भगवान् रामचन्द्र, लक्ष्मण और उनकी सेना लोक-कल्याण-मात्र के उदात्त भावों से ही ओत-प्रोत हैं। अस्तु, समुद्र कदापि उसकी बराबरी नहीं कर सकता।

लंका कांड को एक ही बरवै में गुसाईंजी ने पूरा कर दिया है। उस पर भी रामचंद्र का लंका पर केवल आक्रमण की चर्चा करके

छोड़ दिया—युद्ध और उसके फलाफल की बात नहीं की। परंतु ध्यान से देखने पर इस एक ही बरवै में उन्होंने लड़ाई के नतीजे को भी संकेत से कह दिया है—ऐसा बोध होता है।

'जलधि' पद से, लक्षणा से जलधि-तटवासी रावण का तात्पर्य है। जलधि सांत है, अतएव रावण भी सांत-विभूति-संपन्न है—अनंत नहीं। अतएव 'अनंत' का 'सांत' के साथ कैसे मुकाबिला किया जाय ? यदि मुकाबिला ही हो तो नतीजा प्रत्यक्ष है—सांत कभी टिक नहीं सकता। सुतरां, 'अनंत' के साथ राम ने रावण पर चढ़ाई की और वह हारा—यह संकेतार्थ निकल आता है। अस्तु, दूसरा और बरवै लिखने की गुसाईं जी ने आवश्यकता नहीं समझी।

अलंकार--'काकु वक्रोक्ति' से पुटित 'चतुर्थ प्रतीप'।

'जलधि सरिस को कहै राम भगवंत'—में 'काकु वक्रोक्ति' है। 'चतुर्थ प्रतीप' का लक्षण पहले कहा जा चुका है। यहाँ उपमेय 'राम-भगवंत' की उपमा के योग्य—'जलधि' (उपमान) नहीं ठहरा; इसलिए 'चतुर्थ प्रतीप' है।

उत्तर कांड

चित्रकूट पय नीर सो सुर-तरु बास।
लखन राम सिय सुमिरहु तुलसीदास ॥४३॥

शब्दार्थ—पय=पानी, दूध, पयस्विनी गंगा।

अर्थ—गुसाईंजी अपने को कहते हैं—हे मन! चित्रकूट में गंगा के किनारे, वटवृक्ष के नीचे वास करो और मजे में लक्ष्मण समेत राम और सीता का स्मरण-ध्यान करते रहो।

सूचना—इन दिनों चित्रकूट गंगा-तट पर नहीं है; संभव है, तुलसीदास के समय में या रामचंद्रजी के समय में चित्रकूट गंगा के किनारे ही हो।

विशेष—'पय' का अर्थ दूध और पानी दोनों ही होता है। यहाँ लक्षणा से, 'पय' से गंगाजी का बोध होता है। उसी प्रकार 'सुरतरु' का वाच्यार्थ कल्पवृक्ष है, किंतु व्यंग्य से इसका आशय उस वटवृक्ष से है जिसके नीचे रामचंद्रजी ने लक्ष्मण और सीता के साथ बन जाते समय वास किया था। अर्थात् भगवान् के संसर्ग से इस वटवृक्ष का महत्त्व कल्पवृक्षवत् हो

गया। अतएव तुलसीदासजी वैराग्यव्रत का संकेत करते हैं। मतलब यह कि अमृतोपम गंगाजल का पान छोड़ कर साधारण जल पीना और कल्पवृक्षरूपी वटवृक्ष के तले वास करना छोड़ कर नीरस राजमहलों में रहना निरी मूर्खता है—दुर्भाग्य है।

अलंकार—'शुद्ध निरवयव सम अभेद रूपक'।

विवरण—'सुरतरु'—उपमान उक्त है, पर उपमेय—'वटवृक्ष' अनुक्त है जो केवल व्यंग्य से प्रकट होता है। यहाँ 'वटवृक्ष' में सुरतरु का आरोप है और सुरतरु के अवयवों का कथन नहीं है। अतएव 'शुद्ध निरवयव सम अभेद रूपक' हुआ।

पय नहाय फल खाहु परिहरि आस।
सीय राम पद सुमिरहु तुलसीदास ॥४४॥

शब्दार्थ—पय=जल (दूध और अमृत)।

अर्थ—गुसाईंजी कहते हैं—रे मन ! दूध अथवा अमृत के समान निर्मल गंगाजल में स्नान कर तथा उसे पीकर, जंगल में मिलनेवाले फलों को खाकर भूख और प्यास का निवारण करो और संसार के विषय-सुख की आशा को छोड़ कर केवल सीताराम का स्मरण करते रहो।

विशेष—'पय नहाय' पद में ध्वनि है। 'पय' के अर्थ जल, दूध और अमृत तीनों होते हैं। अतएव तात्पर्य है—'वह जल जो दूध के समान स्वच्छ और अमृत के समान गुणकारी है, पिओ और उसी में नहाओ जिससे वाह्यशुद्धि हो जायगी।

फिर 'फल खाहु' से अभिप्राय है—आहार का मस्तिष्क पर पूरा प्रभाव पड़ता है, अतएव मस्तिष्क को वा विचार को शुद्ध रखने के लिए अन्य वस्तु न खाकर केवल फलाहार करना नितांत आवश्यक है। इस प्रकार अंतःशुद्धि हो जाती है। 'परिहरि आस' का भाव है कि विषय-वासना से चित्तवृत्ति का निरोध करो। 'आस' पद में बड़ा व्यापक अर्थ छिपा हुआ है। आस छोड़ो—स्वावलंबी हो जाओ—जो कुछ मिल जाय उसी पर संतोष करो—दूसरी कोई वासना पास न आने पावे। संतोष ही सुख का मूलरूप है और आशा में दुःख की दुनिया बसा करती है, अतएव 'आस' को एक बार ही छोड़ दो। इस प्रकार वाह्य और आंतरिक शुद्धि द्वारा पूर्ण पवित्र होकर सीता-राम का स्मरण करो—बेड़ा पार हो जायगा।

इस बरवै में शांत-रस का बड़ा ही सुंदर परिपाक हुआ है। यहाँ भक्त तुलसीदास आलंबन विभाव; गंगाजल और वन के फल-मूल उद्दीपन विभाव हैं। 'परिहरि आस' अनुभाव और 'निर्वेद' तथा 'मति' नाम के संचारीभाव हैं। इस प्रकार विभाव, अनुभाव और संचारीभावों के संयोग से 'निर्वेद' स्थायी भाव की पुष्टि होकर 'शांत रस' की प्रतिपत्ति होती है।

अलंकार—'लोकोक्ति'।

लक्षण—लोकोकति जहँ लोक की कहनावत ठहराउ।
राजा करै सो न्याव है पासा परै सो दाउ॥

विवरण—'लोकोक्ति' Idiom को कहते हैं। मुख्य कथन के भाव को परोक्ष-विधि से तीव्र करता है और यही इसमें अलंकारत्व है। यहाँ 'पय-नहाय' में लोकोक्ति है।

स्वारथ परमारथ हित एक उपाय।
सीय-राम-पद तुलसी प्रेम बढ़ाय ॥४५॥

शब्दार्थ—स्वारथ (स्वार्थ)=सांसारिक सुख; ऐन्द्रिक सुख; धन-ऐश्वर्य इत्यादि। परमार्थ=आध्यात्मिक ज्ञान; आत्मानंद।

अर्थ—लौकिक और पारलौकिक सुख-सिद्धि का एकमात्र यही उपाय है कि सीताराम के चरणों में प्रेम को बढ़ाते जाओ।

विशेष—धर्माचरण ही मानव-जीवन का उद्देश्य है। धर्म वही है जिससे लोक-परलोक के सुख सिद्ध होते हैं (यतोऽभ्युदय निश्रेयस सिद्धिः स धर्म्मः—'पातञ्जल')। इसके लिए ज्ञान और भक्ति दो मुख्य साधन हैं, पर ज्ञान-मार्ग नितांत दुरूह होने के कारण गुसाईं जी भक्ति पर जोर डाल रहे हैं। कहा—सीताराम के चरणों में प्रेम बढ़ाओ। मतलब यह कि माया की प्रबलता के कारण ऐन्द्रिक सुख में मनुष्य की स्वभाव से ही लिप्सा होती है। इसलिए भाव है कि अभ्यास के द्वारा अपनी इच्छा की दिशा को बदलना होगा—प्रवृत्ति पलटानी होगी। धीरे-धीरे इच्छा की दिशा को विषय की ओर से फेर कर भगवच्चरणों में लगानी होगी और उसे साधना (अभ्यास और अध्यवसाय) के द्वारा यहां तक बढ़ाना होगा कि मन का विषय से बिलकुल वास्ता न रह जाय। 'सीयराम

पद तुलसी प्रेम बढ़ाय'—से तुलसीदास का भक्ति विषयक दास्य भाव प्रकट होता है।

काल कराल बिलोकहु होइ सचेत ।
राम-नाम जपु तुलसी प्रीति-समेत ॥४६॥

शब्दार्थ—कराल = भयंकर।

अर्थ—भयंकर काल को सचेत होकर देखो और प्रेम के साथ राम का नाम जपा करो।

विशेष—सचेत होकर—बुद्धि से विचार कर काल की करालता को समझो। काल की करालता क्या है ? यही कि इसके फौलादी पंजे से कोई भी बच न सका। चाहे कैसा ही पराक्रमी, बली वा शूरवीर हो, सभी के सिर पर काल या मौत का चिराग बल कर ही रहा। "न गोरे सिकंदर न है क़ब्रेदारा मिटे नामियों के निशाँ कैसे-कैसे !" अस्तु, धर्म कर लेंगे—ऐसा विचार मन में कभी मत आने दो। जो समय तुम्हारे सामने है, उसे भगवद्भक्ति में ही बिताओ। 'गृहीत इव केशेषु मृत्युना धर्ममाचरेत्'। दूसरे 'काल-कराल' से मतलब है माया की प्रबलता। इसी से तो कहते हैं कि तुम सचेत रहो—सतर्क रहो जिसमें कहीं तुम ऐंद्रिक वासना के दलदल में न फँस जाओ। राम का नाम जपो, केवल मुख से नहीं, वरन् हृदय से—प्रेम से। तात्पर्य है कि अपनी चित्तवृत्ति को राम के पवित्र ध्यान में रमाये रहो। इस प्रकार तुम में मन की एकाग्रता का अभ्यास बढ़ेगा और मनोयोग ही सब सिद्धियों की जड़ है।

संकट सोच विमोचन मंगल गेह ।
तुलसी राम नाम पर करिय सनेह ॥४७॥

अर्थ—रे मन ! संकट और शोक से छुड़ाने वाले तथा सब प्रकार के कल्याणों का घर—राम नाम में स्नेह करो—श्रद्धा करो ।

विशेष—व्याघ्र, सर्प, शत्रु आदि का भय, राज-कोप और दरिद्रता संकट कही जाती है तथा हित-हानि तथा प्रिय-वियोग को शोक कहते हैं । भाव है कि जो प्रेम के साथ राम-नाम जपा करता है—जिसे राम-नाम में दृढ़ विश्वास है, उसे न कोई संकट है और न कोई शोक ही व्यापता है, फिर चिंता क्या है ?

कलि नहिं ज्ञान विराग न योग समाधि ।
राम नाम जपु तुलसी नित निरुपाधि ॥४८॥

शब्दार्थ—ज्ञान=आत्मबोध; ईश्वर, जीव और माया के विषय का जानना । विराग=सांसारिक सुख, वरन् स्वर्ग तक की कामना का त्याग । योग=यम, नियम, आसन, प्रत्याहार, प्राणायाम, धारणा, और ध्यान आदि योग-संमत क्रियाओं के द्वारा मन को एकाग्र कर ईश्वर-चिंतन में लगाना । समाधि=ईश्वर में लीन हो रहना । निरुपाधि=विघ्न-बाधा-रहित ।

अर्थ—कलियुग में ज्ञान, विराग, योग और समाधि—इनमें से एक भी साधन सफलता देने वाला नहीं है, क्योंकि इनमें बड़े-बड़े विघ्न हैं । इसलिए निर्विघ्न सिद्धि देने वाला राम-नाम का जप करो । बस, यही एक सुगम उपाय है ।

विशेष—'राम-नाम जपु तुलसी नित निरुपाधि'—में ध्वनि है कि इससे भिन्न साधन—ज्ञान, विराग, योग और समाधि—में उपाधियाँ लगी हुई हैं। रामचरितमानस के उत्तर कांड में गुसाईंजी ने इस विषय पर काफी प्रकाश डाला है। जिज्ञासुओं को उसे पढ़ कर पिपाशा शांत कर लेनी चाहिए। एक स्थान पर कहा है—'ज्ञानी, तापस, सूर, कवि, कोविद गुण आगार। केहि के लोभ विडंबना कीन्ह न यहि संसार'। इस प्रकार जितने भी साधन हैं, कोई खतरे से खाली नहीं। किंतु राम की भक्ति सर्वथा विघ्न-रहित है। यथा—

श्रीराम स्मरणाच्छीघ्रं समस्त क्लेश संक्षयः।
मुक्तिं प्रयाति विप्रेन्द्रस्तस्य विघ्नो न वाधते॥

—नारद पुराण।

राम नाम दोउ आखर हिय हितु जान।
राम लखन सम तुलसी सींव न आन ॥४१॥

शब्दार्थ—आखर=अक्षर। हितु (हितू)=हितैषी। सींव=सीमा, अंतर। आन=अन्य।

अर्थ—राम-नाम के दोनों अक्षरों को हृदय से हितकर समझो राम और लक्ष्मण दोनों ही एक समान हैं। इनकी दूसरी अर्थात् भिन्न-भिन्न मर्यादा नहीं है—दोनों में अंतर नहीं मानना चाहिए।

विशेष—'राम' शब्द में तीन अक्षर हैं—र+आ+म। र से राम का, आ से सीता का और म से लक्ष्मण का अभिप्राय

लिया गया है। फिर राम और जानकी एक ही हैं। यथा—गिरा-अर्थ, जल-वीचि सम कहियत भिन्न न भिन्न। बंदौं सीता-राम पद जिनिहिं परम प्रिय खिन्न। अब रा से राम (सीताराम) और म से लक्ष्मण का द्योतन हुआ। अस्तु, कहते हैं कि इनमें—राम और लक्ष्मण में, भेद न मानो, एक समझो, क्योंकि एक-दूसरे का परिपूरक है। एक के विना दूसरे का अस्तित्व ही नहीं। रा के बाद म जोड़ने से अथवा म के पहले रा जोड़ने से ही 'राम' होता है। यहाँ गुसाईंजी ने अद्वैतवाद का प्रतिपादन किया है। राम को ब्रह्म, लक्ष्मण को जीव और सीता को माया का रूप दिया है। यथा—"उभय मध्य सिय सोहति कैसी; ब्रह्म जीव बिच माया जैसी।"

माय बाप गुरु स्वामि राम कर नाम।
तुलसी जेहि न सुहाय ताहि बिधि बाम ॥६०॥

अर्थ—राम का नाम माता, पिता, गुरु और स्वामी के समान है। तुलसीदासजी कहते हैं कि ऐसा प्रिय नाम जिसको अच्छा नहीं लगता, समझो कि विधाता उसके विरुद्ध हैं—वह अभागा है।

विशेष—राम माता-पिता के समान पालन करने वाला, गुरु के सामान नीति-मार्ग का दिखाने वाला और स्वामी के समान सदा रक्षा करने वाला है।

अलंकार—इसमें 'मालोपमा' और 'तृतीय तुल्ययोगिता' का संकर है।

(१) लक्षण—जहाँ एक उपमेय के बरनैं बहु उपमान।
भिन्न-अभिन्नहु धर्म तें मालोपमा बखान॥

विवरण—यहाँ भिन्नधर्मा मालोपमा है। जहाँ अनेक उपमानों के पृथक्-पृथक् धर्मों के लिए उपमा दी जाय, वहाँ भिन्नधर्मा मालोपमा होती है। यहाँ माय, बाप, गुरु और स्वामी भिन्न-भिन्न उपमानों के पालन करना, उपदेश करना और रक्षा करना भिन्न-भिन्न धर्म हैं; अतएव भिन्नधर्मा मालोपमा है।

(२) लक्षण--सम करिये उत्कृष्ट गुण बहु के इक महँ लाय।
तुल्ययोगिता तीसरी ताहि कहैं कविराय॥

विवरण—जहाँ अनेक उपमानों के भिन्न-भिन्न गुणों की एक वर्ण्य में समता दी जाती है, वहाँ यह अलंकार होता है। यहाँ माता, पिता, गुरु और स्वामी इन अनेक उपमानों के भिन्न-भिन्न गुणों की उपमा राम को दी गई, अतएव तृतीय तुल्ययोगिता हुई।

सूचना—'संकर' अलंकार का विवेचन परिशिष्ट के उभयालंकार प्रकरण में देखिये।

राम नाम जपु तुलसी होइ बिसोक।
लोक सकल कल्याण नीक परलोक॥८१॥

अर्थ—चिंता छोड़ कर—मन को दुनिया की ओर से हटाकर राम-नाम का जप करो। फलतः संसार में सभी प्रकार कल्याण होगा और मरने के बाद सहज ही मुक्ति मिल जायगी।

विशेष—गुसाईं जी का कथन है कि राम-नाम जपो और विशोक अर्थात् शोक-मुक्त हो जाओ। अर्थात् राम-नाम जपते ही मनुष्य शोक-रहित हो जाता है। ऐसा करने पर 'अक्रमाति-शयोक्ति' अलंकार होगा।

(१) लक्षण—कारण अरु कारज जहाँ होत एक ही संग।
अक्रमातिशयोक्ति सो बरनत सुकवि सुढंग॥

विवरण—यहाँ 'जप करना' कारण, और 'विशोक होना' कार्य है। दोनों का एक साथ होना वर्णन किया गया है, अतएव 'अक्रमातिशयोक्ति' अलंकार है।

इसके सिवा 'दूसरी विभावना' अलंकार भी है।

(२) लक्षण—हेतु अपूरण ते जहाँ कारण पूरन होय।

यहाँ राम नाम का जपना साधारण कारण है, पर उससे कार्य पूर्ण हो जाता है अर्थात् लोक और परलोक दोनों ही बन जाते हैं।

तप तीरथ मख दान नेम उपवास।
सब ते अधिक राम जपु तुलसीदास॥८२॥

शब्दार्थ—तप=पंचाग्नि का तापना वा जाड़े में जल-शयन आदि। नेम=नियम; शौच संतोष तपःस्वाध्यायेश्वर प्रणिधानानि नियमाः—'पातंजल योगदर्शन'। मख=यज्ञ। उपवास=चांद्रायण व्रतादि।

अर्थ—तपश्चर्या, तीर्थाटन, यज्ञ, दान, नियम और उपवास—इन समस्त कर्मों की अपेक्षा राम-नाम का जप करना कहीं अधिक सुगम और लाभकारी है।

महिमा राम-नाम की जान महेश।
देत परमपद काशी करि उपदेश ॥८३॥

अर्थ—राम-नाम की महिमा श्री महादेवजी जानते हैं, क्योंकि राम-नाम का ही उपदेश देकर वह जीवों को काशी में परमपद प्रदान करते हैं।

विशेष—पुराण का मत है कि काशी में जो जीव मरता है उसके दाहिने कान में शंकरजी 'राम' यह मंत्र कह देते हैं। बस, इस महा मंत्र के प्रताप से उस जीव की मुक्ति हो जाती है। यथा—

अहो भवन्नाम गृणात्कृतार्थो वसामि काश्यामनिशं भवान्या;
मुमूर्षुमाणस्य विमुक्तयेहं दिशामि मंत्रं तव राम नाम।
—आध्यात्म रामायण।

जान आदि कवि तुलसी नाम प्रभाव।
उलटा जपत कोल ते भये ऋषिराव ॥८४॥

अर्थ—राम-नाम की महिमा आदिकवि बाल्मीकि को मालूम है, जो उलटा—'मरा-मरा'—जप कर कोल (अनार्य) जाति से ऋषि-श्रेष्ठ हो गए।

विशेष—ब्राह्मण-कुल में ही बाल्मीकि का जन्म हुआ था। वे प्रचेता ऋषि के पुत्र थे। बाल्यावस्था में कोल भील की

संगति के कारण ये चरित्र-हीन हो गए । इन्हें लूट मार करने की लत पड़ गई । इन्होंने शूद्रा कन्या से विवाह भी कर लिया और परिवार-पालन करने के लिए राहेजनी का रोजगार अख्तियार कर लिया । एक समय सप्तर्षि से उनकी भेंट हो गई । ऋषियों ने उन्हें दुराचार से छुड़ा कर राम-नाम का उपदेश दिया, पर वाल्मीकि का संस्कार यहाँ तक मंद पड़ गया था कि राम का उच्चारण तक नहीं कर सकते थे । निदान, वह 'मरा-मरा' जपने लगे और उसी उलटा नाम के प्रभाव से महर्षि एवं आदि-कवि हो गए ।

इससे यह भी सिद्ध होता है कि उस समय गुणकर्म के अनुसार ही वर्ण-व्यवस्था हुआ करती थी और शुद्धि की प्रथा अवाध रूप से प्रचलित थी । जाति पर वंशानुगत (मौरूसी) अधिकार नहीं था ।

कलसजोनि जिय जानेउ नाम प्रतापु ।
कौतुक सागर सोखेउ करि जिय जापु ॥५५॥

शब्दार्थ—कलसजोनि = अगस्त्य मुनि । कौतुक = खेल में; वे प्रयास ।

अर्थ—कलश (घड़ा) से उत्पन्न होने वाले अगस्त्य मुनि ने राम-नाम की महिमा को जाना, क्योंकि राम-नाम का स्मरण करते ही बात-की-बात में उन्हों ने समुद्र को सोख लिया ।

विशेष—एक वार अगस्त्यजी समुद्र के किनारे तपस्या कर रहे थे, इतने में समुद्र की तरंग आई, और इनके पूजा के सामान बहा ले गई। यह देख ऋषि ने क्रोध से रामनाम का स्मरण कर तीन चुल्लू में समुद्र के सारे जल को आचमन कर डाला। निदान, देवताओं के अनुनय-विनय करने पर जल को मूत्र द्वारा निकाल दिया। कहा जाता है, तभी से समुद्र का जल खारा हो गया।

तुलसी सुमिरत राम सुलभ फल चारि।
वेद पुराण पुकारत कहत पुरारि ॥५६॥

अर्थ—राम का स्मरण करने से चारों फल—अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष—सहज ही में मिल जाते हैं; ऐसा वेद-पुराणों का स्पष्ट मत है और महादेवजी भी कहते हैं।

विशेष—पुराणादि ग्रंथों में राम-नाम की महिमा कई स्थलों में गायी गई है। यथा—'रमयति आनंदयति लोकानिति रामः। लोक रमणत्वाद्रामः'—'शांडिल्य सूत्र'।

शिव सारस्वत तंत्र में शिवजी का वाक्य—
"तत्रापि राम मंत्रश्च तत्रापि च षडक्षरः;
स्वबीज पूर्वकस्तत्र नातः परतरे प्रिये।
यस्य प्रसाद देवेशि मम सामर्थ्यमीश्वरम्;
संहारमिक्षणादेवं त्रैलोक्यं सचराचरम्।
धाता सृजति भूतानि विष्णुर्धारयते जगत्।
न तस्य दुर्लभं किंचिद्यस्य कर्णोमनुत्तमः॥
मंत्रराज फलं देवि मया वक्तुं न शक्यते॥

राम नाम पर तुलसी नेह निबाहु ।
यहि ते अधिक न यहि सम जीवन लाहु ॥८७॥

शब्दार्थ—लाहु= लाभ ।

अर्थ—राम के स्मरण में नेह का निर्वाह करो इससे बढ़कर दूसरा साधन नहीं है और न इसके समान जीवन का दूसरा लाभ ही है।

दोष दुरित दुख दारिद दाहक नाम ।
सकल सुमंगल दायक तुलसी राम ॥८८॥

शब्दार्थ—दोष=जीव-हिंसादि पाप । दुरित=चोरी, ठगई, परापकार, परनिंदा, पर-स्त्री-गमन, आदि आदि । दुःख=हानि; वियोग, रोग, व्याधि, शत्रु-संकट, राज-दंड, आदि । दारिद=अन्न-वस्त्र का अभाव ।

अर्थ—राम-नाम दोष, दुरित, दुःख और दरिद्रता का जलाने वाला और सभी प्रकार के कल्याणों का देनेवाला है ।

केहि गनती महँ गनती जस बन घास ।
राम जपत भये तुलसी तुलसीदास ॥८९॥

अब गुसाईं जी राम-नाम का प्रत्यक्ष प्रमाण दिखाते हैं—

अर्थ—जन-समाज में मेरी क्या गिनती थी ? जैसे वन की घास को कोई नहीं पूछता, वही दशा मेरी थी । परंतु राम-नाम

के जपते ही मैं तुलसीदास तुलसी के समान पवित्र पौधा बन गया—पवित्र हो गया।

अलंकार—'प्रथम उल्लास'।

लक्षण—और वस्तु के गुनन ते और होत गुनवान।
ताहि प्रथम उल्लास कवि कहत जे बुद्धि निधान॥

विवरण—यहां राम-नाम के प्रताप से तुलसीदास का पवित्र होना गुण से गुण कथन किया गया है। अतः 'प्रथम उल्लास' अलंकार है।

आगम निगम पुरान कहत करि लीक।
तुलसी राम नाम कर सुमिरन नीक॥६०॥

शब्दार्थ—आगम=वेद; तंत्र। निगम=शास्त्र। लीक=रेखा। लीक करि=रेखा खींच कर; निश्चय के अर्थ में ऐसा कहा जाता है।

अर्थ—राम-नाम के स्मरण से जीव का स्वभावतः कल्याण हो जाता है। इस बात को वेद, शास्त्र और पुराण रेखा खींच कर (जोर डाल कर—निश्चय के साथ) कहते हैं।

"परंब्रह्म ज्योतिष्मयं नाम उपास्व मुमुक्षुभिः"
—यजुर्वेद।

सुमिरहु नाम राम कर सेवहु साधु।
तुलसी उतरि जाहु भव-उदधि अगाधु॥६१॥

अर्थ—मन से राम-नाम का स्मरण करो और हाथ से साधु की सेवा करो। इसी में संसार रूपी समुद्र को पार कर जाओगे।

विशेष—मन, वचन और कर्म का जब सामञ्जस्य होता है, तभी मनुष्य लक्ष्य को प्राप्त हो सकता है। 'माला तो कर में फिरै जीभ फिरै मुख मांहि। मनुआँ चारों दिसि फिरै यह तौ सुमिरन नाहिं।"

—कबीर।

इसीलिए गुसाईं जी आराधना की रीति बताते हुए कहते हैं कि राम-नाम का स्मरण करो—अंतःकरण में राम के रूप को बैठा कर उसी का ध्यान करो। राम का रूप सत्य है, अतः सत्य-स्वरूप राम-रूप को ही अपना ध्रुव ध्येय बनाओ। वचन से राम-राम जपो अर्थात् सत्य भाषण करो, और कर्म से साधुओं की सेवा करो अर्थात् अच्छे लोगों की संगति से तुम्हारे आचरण शुद्ध होंगे। साधु-सेवा से तात्पर्य लोक-सेवा भी हो सकता है। इस प्रकार रूप के ध्यान से चित्तवृत्ति, जप से वचन और सेवा से कर्म पवित्र होंगे। अस्तु, जीवन-साफल्य का यही सब से उत्तम और सुगम उपाय है।

कामधेनु हरि नाम कामतरु राम।
तुलसी सुलभ चारि फल सुमिरत नाम ॥६२॥

अर्थ—जहां राम कल्पवृक्ष हैं, वहां राम का नाम कामधेनु है क्योंकि नाम के स्मरण मात्र से चारों फल सहज में ही प्राप्त हो जाते हैं।

विशेष—राम भी मनचाह वरदान देनेवाले हैं और नाम भी इच्छितफल देनेवाला है। यहां तक तो दोनों एक-से हैं। पर, राम को कल्पवृक्ष कह कर स्थावर किया है। मतलब यह कि राम सर्वत्र सुलभ नहीं हो सकते—देवलोक में ही मिल सकते हैं, वहां तक पहुंचना सब के लिए सुगम नहीं है। पर, नाम कामधेनु के समान जंगम या चलता-फिरता है अर्थात् चाहे जहां कहीं और जब-कभी उसका स्मरण किया जाय, वह मौजूद मिलेगा। अतएव राम की अपेक्षा राम-नाम में इतनी विशेषता है।

अलंकार—'कामधेनु हरि नाम' और 'कामतरु राम' में 'सम अभेद रूपक' है। फिर 'तुलसी सुलभ चारि फल सुमिरत नाम' में 'व्यतिरेक' अलंकार है। लक्षण पूर्वोक्त।

तुलसी कहत सुनत सब समुझत कोय।
बड़े भाग अनुराग राम-पद होय ॥६३॥

अर्थ—राम-नाम की महिमा यों तो कहते और सुनते सभी हैं, परंतु समझता बिरला ही कोई है। बड़े भाग्य से राम के चरणों में अनुराग होता है।

विशेष—परमात्मा राम के संबंध में यह सीधी सी बात सभी को कहते सुनते पाया जाता है कि—'राम स्वरूप तुम्हार, वचन अगोचर बुद्धि पर। अविगत अगम अपार' नेति-नेति नित निगम कह।'—इत्यादि। पर राम परमात्मा का रूप क्या है? इसे समझना नितांत कठिन है। वैसा ही कोई-कोई महाभाग है जो

इस विषय को समझ लेता है, क्योंकि जो समझता है, उसकी मुक्ति हो जाती है—'जानत तुमहिं तुमहिं होइ जाई।'—केवल कहने-सुनने वाले का नहीं। अध्यात्म विषय पढ़ने या कहने सुनने की वस्तु नहीं, अमल करने की चीज है।

एकहि एक सिखावत जपत न आप।

तुलसी राम प्रेम कर बाधक पाप ॥६४॥

अर्थ—राम-नाम की महिमा और उसके जपने का उपदेश एक दूसरे को किया करते हैं—यह संसार की रीति है, पर स्वयं नहीं जपते हैं। राम-नाम के जपने में प्रेम का वाधक पाप है।

विशेष—लोक-व्यवहार की यह बीमारी परंपरा से चली आती है कि एक दूसरे को अच्छा आचरण करने का उपदेश करे—"पर उपदेश कुशल बहुतेरे, जे आचरहिं ते नर न घनेरे।" पिता पुत्र को, गुरु शिष्य को, बड़ा छोटे को उपदेश करते हैं कि बुरा काम न करो, सदाचार सीखो; यद्यपि वे स्वयं वैसा नहीं बरतते हैं, इसी प्रकार सास पतोहू को सीख देती, पर स्वयं उस सीख का अनुसरण नहीं करती। अलगर्ज—'परोपदेशे पांडित्यं'—की नीति का सहारा लेने वाला संसार में हर कोई है पर आचरण द्वारा आदर्श उपस्थित करने वाला कोई-कोई है। यही कारण है कि उनके उपदेशों का असर कुछ नहीं होता है। इसी तरह राम-नाम जपने की शिक्षा केवल बातों से देना व्यर्थ है, आचरण द्वारा आदर्श रखना चाहिए।

मरत कहत सब सब कहँ सुमिरहु राम।
तुलसी अब नहिं जपत समुझि परिनाम ॥६५॥

अर्थ—मनुष्यों को मरते देख कर सब कोई सब से यही कहते हैं कि राम-नाम का स्मरण करो। किंतु, परिणाम को आँखों देख कर भी फिर पीछे राम का नाम नहीं जपते—माया में भूल जाते हैं।

विशेष—मनुष्य जब मरता है तो उसकी यह दशा देख कर अन्य लोगों के हृदय में कुछ क्षणों के लिए संसार की अनित्यता का ज्ञान हो जाता है और विरक्त हो एक-ईश्वरीय-सत्ता में ही विश्वास करने लगता है, पर मुर्दे को जला कर चिता-भूमि से जैसे ही घर वापस आता है, वैसे ही फिर घर-गृहस्थी में फँस कर संसार की असारता का विश्वास उसके हृदय से काफूर हो जाता है। वह फिर संसारी बन जाता है।

तुलसी राम-नाम जपु आलस छाँड़।
राम विमुख कलिकाल को भयो न भांड़ ॥६६॥

अर्थ—गुसाईं जी कहते हैं कि आलस त्याग कर राम-नाम जपा करो, क्योंकि राम से विमुख रह कर इस कलिकाल में, कौन ऐसा है, जो अंत में भांड़ न हुआ ?

विशेष—राम-नाम के जपने से निर्विघ्न सिद्धि लाभ हो जाती है। किंतु राम-नाम को छोड़ कर जो मनुष्य ज्ञान, योग आदि का आश्रम लेता है, उसकी साधना प्रायः पूरी नहीं होती—बीच

ही में षडवर्गों के द्वारा वाधित होकर भ्रष्ट हो जाती है। उसके हृदय में काम, क्रोध, लोभ आदि विकार घर कर लेते हैं और तब उसे केवल योगियों का बानामात्र रह जाता है—वह उसी के द्वारा उदर-पूर्त्ति करता है। इसी हेतु ऐसों के लिए गुसाईंजी ने स्वांग रचनेवाला—अद्भुत करामात दिखा कर मतलब गांठनेवाला भाँड़ कहा है।

तुलसी राम-नाम सम मित्र न आन।
जो पहुँचाव राम-पुर तनु-अवसान ॥६७॥

अर्थ—गुसाईंजी कहते हैं कि राम-नाम के समान दूसरा मित्र संसार में नहीं है जो देहांत होने पर स्वर्गलोक को पहुँचा देता है।

विशेष—मित्र का अर्थ है, जो सदा साथ रहे। "सोई अपनो आपनो रहत निरंतर साथ। होत पराया आपनो शस्त्र पराये हाथ"। किंतु माता, पिता, बन्धु, भाई, स्त्री, पुरुष—संसार के नातादारों में से कोई भी चिताभूमि से आगे साथ देने वाला नहीं है, पर राम-नाम एक ऐसा मित्र है कि, जो राम-नाम को नहीं छोड़ता, उसे राम-नाम भी नहीं छोड़ता है और उसे स्वर्ग-लोक पहुँचा कर ही दम लेता है

अलंकार—'काव्यलिंग'।

लक्षण—पूर्वोक्त।

विवरण—'राम-नाम सम मित्र न आन' इस पूर्व कथित वाक्य का 'जो पहुंचाव रामपुर तनु अवसान'—इस कारण-वाक्य द्वारा समर्थन किया गया है।

राम भरोस नाम बल नाम सनेहु।
जनम-जनम रघुनंदन तुलसिहिं देहु ॥६८॥

अर्थ—गुसाईंजी कहते हैं, हे रामचन्द्रजी! मुझे भुक्ति-मुक्ति नहीं चाहिए, मैं केवल यही माँगता हूँ कि मुझे प्रत्येक जन्म में आपके नाम का ही भरोसा रहे, नाम का ही बल रहे और नाम में ही मेरी लगन लगी रहे।

जनम-जनम जहँ तहँ तनु तुलसिहिं देहु।
तहँ तहँ राम निबाहिब नाथ सनेहु ॥६९॥

अर्थ—हे रामचन्द्रजी! जहां कहीं भी जन्मांतर में मुझे शरीर धारण करना पड़े, वहां-वहां मेरा प्रेम राम-नाम में बना रहे, यही वरदान दो।

विशेष—दास्य-भाव के लिए गुसाईंजी का निवेदन है। 'निबाहिब नाथ सनेहु'—अर्थात् स्वाम्योचित स्नेह निबाहना—आप का मैं सदा सेवक बना रहूँ, ऐसी कृपा करना।

—इति—

परिशिष्ट ।

(१) शब्दालंकार

नोट—अलंकार-शास्त्र में अलंकार तीन प्रकार के कहे गये हैं—(१) शब्दालंकार, (२) अर्थालंकार और (३) उभयालंकार। यहां शब्दालंकार और उभयालंकार का संक्षिप्त विवेचन किया जाता है।

यों तो शब्दालंकार के अनेक भेद हैं, परन्तु उनमें से यहां पाँच सब से प्रमुख भेदों का उल्लेख किया जाता है—

(१) अनुप्रास, (२) पुनरुक्तवदाभास, (३) वक्रोक्ति, (४) यमक और (५) श्लेष।

१—अनुप्रास

जहां व्यंजन वर्णों की समानता हो, चाहे स्वर-साम्य हो वा न हो, तो वहां अनुप्रास अलंकार होता है।

इसके चार भेद हैं— (क) छेक, (ख) वृत्ति, (ग) श्रुति और (घ) अंत्य।

(क) छेक—जहां एक वा अनेक वर्णों की आवृत्ति चाहे आदि में अथवा अंत में होती है। जैसेः—

सीय बरन सम केतकि अति हिय हारि।
किहेसि भँवर कर हरवा हृदय विदारि ।।

यहां 'सीय और सम' में 'स' की 'हिय और हारि' में 'ह' की 'भँवर और कर' में 'र' की तथा 'हरवा और हृदय' में 'ह' की एक आवृत्ति होने के कारण छेकानुप्रास है। इसी प्रकार—

कोउ कह नर-नारायण हरि-हर कोउ।
कोउ कह विहरत बन मधु मनसिज दोउ ।।

वृत्ति—छेकानुप्रास की तरह आदि और अंत में एक वा अनेक वर्ण की अनेक आवृत्ति हो तो वहां वृत्यनुप्रास होता है। यह आवृत्ति वृत्तियों के अनुकूल होती है इसीलिये वृत्यनुप्रास कहते हैं।

सूचना—वृत्तियाँ तीन हैं। उपनागरिका, परुषा और कोमला।

उपनागरिका—माधुर्य गुण-सूचक वर्ण में यह वृत्ति होती है। इसमें टवर्ग नहीं आता पर सानुनासिक वर्ण लिया जाता है; जैसे—

"दोष दुरित दुख दारिद दाहक नाम।"
यहां 'द' की कई वार आवृत्ति हुई।

परुषा—टवर्ग, द्वित्ववर्ण, रेफ, संयुक्त वर्ण, श, ष, जिसमें अधिक हों वहां ओज गुण और परुषा वृत्ति होती। जैसेः—

'मुन्ड कटत कहुं रुन्ड नटत कहुं सुन्ड पटत घन'।

नोटः—बरवै रामायण में परुषा वृत्ति का उदाहरण नहीं है इसीलिए अन्यत्र से दिया गया।

कोमल—य र ल व स ह—ये वर्ग जिसमें अधिक हों वहां प्रसाद गुण और कोमला वृत्ति होती है। जैसेः—

सम सुवरन सुखमाकर सुखद न थोर।
सीय अंग सखि कोमल कनक कठोर॥

श्रुत्यनुप्रास—एक ही उच्चारण-स्थान से उच्चरित होनेवाले वर्णों की समता हो तो यह अनुप्रास होता है। जैसे—

सात दिवस भये साजत सकल बनाउ।
का पूँछहु सुठि राउर सहज सुभाउ॥

यहां दंत्य (दांत से उच्चरित होने वाले) वर्णों की बहुलता है। जैसे—स, त, द और न।

अंत्यानुप्रास—छंद के प्रत्येक चरण के अंत्याक्षर को 'तुक' कहते हैं। इन तुकों में यदि साम्य हो तो उसे अंत्यानुप्रास कहते हैं। जैसे—

वेद नाम कहि अँगुरिन खंडि अकास।
पठयो सूर्पनखहिं लछिमन के पास॥

यहाँ 'अकास' और 'पास' के अंत्य वर्ण 'स' में साम्य है और यह अंत्यानुप्रास है।

२—पुनरुक्तिवदाभास

एक ही स्थान पर यदि दो पर्यायवाची शब्द ऐसे रक्खे जायँ जिनसे एक-ही-सा अर्थ दिखाई दे, पर यथार्थ में उनके अर्थ भिन्न भिन्न हों, तो उसे 'पुनरुक्तिवदाभास' कहते हैं। जैसे—

सात दिवस भये साजत सकल बनाउ।
का पूंछहु सुठि राउर सहज सुभाउ॥

यहां 'सहज' और 'सुभाउ' का प्रत्यक्ष में एक ही अर्थ (=स्वभाव) है पर यहाँ 'सहज' सरल के अर्थ में और 'सुभाउ' स्वभाव के लिये आया है।

३—वक्रोक्ति

जब किसी वाक्य का श्लेष वा काकु (कंठध्वनि) से अर्थ पलट दिया जाय तो वहां वक्रोक्ति होती है। जैसे—

काकु से—'का पूछहु सुठि राउर सहज सुभाउ।'
इसका वाच्यार्थ तो यही है कि आपका स्वभाव बड़ा सीधा सादा है, पर काकु (कंठ ध्वनि) से भाव व्यंजित होता है कि तुम निरी बेवकूफ हो। इसी प्रकार—'काकपच्छ मिलि सखि कस लसत कपोल'—में कंठध्वनि से 'अपूर्व शोभा' का अर्थ व्यंजित होता है।

४—यमक

एक ही शब्द जब छंद में बार-बार आवे और अर्थ दूसरा-दूसरा हो तो उसे यमकालंकार कहते हैं।

यमक में जिस अक्षर-समूह का आवर्त्तन होता है, वह तीन प्रकार का होता है। (१) उत्तम—दोनों निरर्थक अक्षर-समूह। (२) मध्यम—एक सार्थक और एक निरर्थक और (३) अधम—दोनों सार्थक। जैसे—

(१) चितवनि बसत कनखियन अँखियन बीच'—में 'खियन' अक्षर-समूह में आवर्त्तन है और वह निरर्थक है। इसलिए उत्तम यमक हुआ।

(२) 'कनगुरिया कै मुंदरी कंकन होय'—में 'कन' अक्षरों में यमक है परन्तु पहला 'कन' का अर्थ कनिष्ट है, इसलिए सार्थक, पर दूसरा 'कन' निरर्थक है, अतएव यह मध्यम यमक हुआ ।

(३) 'राम जपत भये तुलसी तुलसीदास'—में 'तुलसी' दो बार आया है और दोनों के भिन्न-भिन्न अर्थ हैं। यह अधम यमक है ।

५—श्लेष

ऐसे शब्दों का प्रयोग जिनके एक से अधिक अर्थ हों, श्लेष अलंकार कहलाता है। जैसे—

> कुजनपाल, गुनवरजित, अकुल, अनाथ।
> कहउँ कृपानिधि राउर कस गुन-गाथ ॥

इसके पूर्वार्द्ध का प्रत्येक पद दो अर्थ वाला है । इसलिए इस में श्लेष अलंकार है। अर्थ समझने के लिए टीका देखिए।

(२) उभयालंकार

जहां एक से अधिक अलंकार आ जाते हैं, वहाँ उभयालंकार होता है। इस मिश्रण के दो भेद हैं:—

(१) संसृष्टि और (२) संकर।

१—संसृष्टि

जहाँ दो अलंकार ऐसे मिले हों कि वे 'तिल-तंडुल-न्याय' से अलग-अलग किये जा सकें तो वहां संसृष्टि उभयालंकार होता है। जैसे—

राजभवन सुख विलसत सिय सँग राम।
विपिन चले तजि राज सु विधि बड़ बाम ॥

इसमें 'विषादन', 'अनुपलब्धि' और 'प्रथम निदर्शना' का संमिश्रण है, जो जुदे-जुदे जान पड़ते हैं। (विशेष वर्णन टीका में देखिए।) अतएव यह संसृष्टि है।

२—संकर

जब कई अलंकारों का ऐसा मिश्रण हो कि मिले हुए दूध-पानी की तरह अलग-अलग नहीं किया जा सकें तो वहां 'संकर' उभयालंकार होता है। जैसे—

माय बाप गुरु स्वामि राम कर नाम।
तुलसी जेहि न सुहाय ताहि विधि बाम ॥

इसमें 'मालोपमा' और 'तृतीय तुल्य योगिता' का उसी प्रकार सम्मिश्रण है। स्पष्ट समझने के लिए टीका देखिए।

सूचना—'बरवै रामायण' में उभयालंकार के अनेक उदाहरण मिलेंगे। विस्तार-भय से यहां केवल एक-एक उदाहरण दिया गया।